पुस्तक विक्रेता
श्री विदर्भ हिन्दी साहित्य समिति
अकोला (बरार)

मुद्रक: शिवलाल अग्रवाल
राजस्थान प्रिंटिंग ॲंड लिथो वर्क्स लि०
अकोला—बरार

## समर्पण

### श्रीरामजी गुप्ता, अकोला

प्रियवर

ता. १८ मई १९३८ को जब मैं शिक्षक होकर अकोला आया, तभी से सोच रहा था कि यहाँ एक हिन्दी हायस्कूल और एक कोई साहित्यिक संस्था हो। प्रथम परिचय में ही आपने मेरी इच्छाओं को जानकर मेरा साथ दिया और आज तो मैं देखता हूँ कि आपके प्रयत्न से मेरी अभिलाषाओं ने साकार रूप धारण करलिया है अतः हिन्दी हायस्कूल और 'श्री विदर्भ हिन्दी साहित्य समिति' के संस्थापक के रूप में आप को यह संकलन सौंप कर मैं प्रसन्न हूँ।

स्नेही
श्रीराम शर्मा

दानवीर श्रीमान सेठ तेजसिंहजी मोहता, मद्रास

## दानवीर श्रीमान सेठ तेजसिंहजी मोहता

आप जैसलमेर निवासी श्रीमान शेरसिंहजी मोहता के ज्येष्ठ पुत्र हैं।
आपका जन्म माघ वदी ९ मी संवत् १९६७ को मद्रास में हुआ।
वहाँ आप चांदी सोने का व्यापार करते हैं। 'शेरसिंह
तेजसिंह मोहता' फर्म के आप मालिक हैं।
श्री. तेजसिंहजी एक उदार हृदय युवक
और कुशल व्यापारी हैं। 'समिति'
के इस प्रथम प्रकाशन के लिये
आपने ५०१ रु. दान
दिया है, एतदर्थ
धन्यवाद।
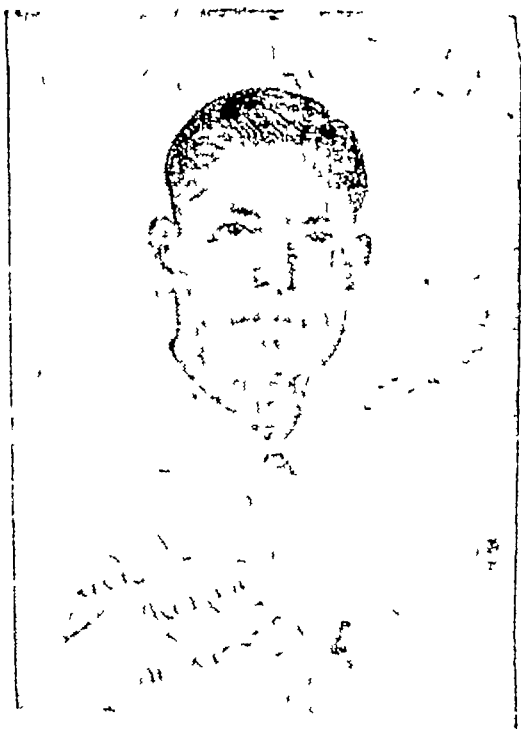
लेखक

## लेखक की लेखनी से

मेरे भारतवर्ष की पवित्र भारती (हिन्दी) की उन जागरूक प्रतिभाओं के आगे मैं नतमस्तक हूँ जिनसे मुझे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष से कुछ प्रेरणा मिली है।

मैं जानता हूँ कि इस पुस्तक के नामकरण से मेरे मित्रों का मतभेद होगा किन्तु मैं स्पष्ट कर दूं कि नाम सामने रखकर यह पुस्तक नहीं लिखी गई। यह तो सन ३५ से ४२ तक के साहित्य सन्देश, साधना, कर्मवीर, प्रताप, विश्वबन्धु, मध्यभारत, जागरण और समाज सेवक आदि पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित मेरे लेखों का संकलन मात्र है। विषय को सामयिक बनाने के लिये मैंने यथास्थान कुछ संशोधन भी कर दिये हैं। कागज की महँगाई के कारण कई जगह दो लेखों को एक में कर दिया है। शायद कुछ लोगों को वे अटपटे से लगें किन्तु साहित्य के विद्यार्थियों की तो इससे कुछ हानि नहीं। सिर्फ एक बात और। पुस्तक के प्रकाशन का अधिकार आगरा के श्री. महेन्द्रजी का था। जेल जाते समय 'समिति' के मांगने पर उन्होंने सारी सामग्री लौटादी अतः उनके सौजन्य की प्रशंसा करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

श्रीराम शर्मा
(साहित्य मन्त्री)
श्री विदर्भ हिन्दी साहित्य समिति

अकोला (बरार)
१ मई १९४३

# पुस्तक पर पाँच विचार

**पं० अमरनाथ झा, प्रयाग**

"पढ़कर चित्त प्रसन्न हुआ। निबन्ध रोचक और शिक्षाप्रद है।"

**पं० माखनलाल चतुर्वेदी, खण्डवा**

"आपने सावधान दृष्टि रखकर प्रयत्न किया है। बरार मे बैठकर, आपकी हिन्दी जगत पर यह सजग दृष्टि प्रसन्नता की वस्तु है।"

**पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रयाग**

"आपने हिन्दी साहित्य के अभ्युदय की दृष्टि रखकर, न केवल उसके निर्माताओं की समस्याओं का गम्भीर विश्लेषण किया है, वरन साहित्य-जगत के अन्दर पनपनेवाली उन दुर्बलताओं और हीन वृत्तियों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है, जिनके कारण साहित्य की सजीवता और सप्रमाणता, प्रतिबन्धों और अवरोधों के जाल मे पड़कर आयेदिन दम तोडती रहती है।"

**पं० रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', प्रयाग** --

"आपका दृष्टिकोण स्वस्थ और प्रगतिगामी है भाषा परिमार्जित और शैली निर्दोष है। विश्वविद्यालयों के हिन्दी छात्रों के लिये पुस्तक अत्यत उपयोगी सिद्ध होगी साथही हिन्दी के उगते आलोचक भी उसमे एक पथ निर्देश पासकेंगे।"

**श्री. प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ**-

"हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक श्री. शर्माजी के विभिन्न साहित्यांगो से सम्बन्ध रखने वाले सुन्दर और सुपाठ्य लेख प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओ मे ही मैं रुचि से पढता रहा हूँ। इस सकलित रूप मे इनसे सर्वसाधारण को भी मनोरजन के साथ ज्ञानार्जन का सुअवसर मिलेगा, इसका मुझे विश्वास है!"

# क्रम

# हिन्दी साहित्य की वर्तमान विचार-धारा

# हिन्दी-काव्य की वर्तमान विचार-धारा

बीते हुए जमाने की हिन्दी-काव्य की विचार-धारा मे हमने लोगोको लडते देखा, निराकार के पीछे भटकते देखा, प्रेमियो को मजनू बनते देखा, राम कृष्ण पर निछावर होते देखा, शृगार मे डूबते देखा, पतन के गर्त से निकलते भी देखा और स्वतत्रता के पथ पर अग्रसर होते भी देखा। समय-प्रवाह के साथ हमारी एक हजार वर्ष की काव्यधारा अनेक रूप बदलती हुई आगे बढ गई, किन्तु इन विविध रूपो में छिपी हुई हमारी गुलामी की सूचना देनेवाली एक अक्षुण्णधारा भी बह रही थी जिसका कारण हम अपने एक हजार वर्ष की गुलामी के इतिहास मे ढूढ सकते है।

इस समय भारतीय-हृदय अपनी खोई हुई आजादी को प्राप्त करने के लिए झगड रहा है। जीवन में सघर्ष मच रहा है। सघटन और एकता के लिए उपाय सोचे जा रहे है। अविकसरुग्धक भारतीय रोटी के लिए त्राहि-त्राहि कर रहे है। बेकारी ने सब को बेहाल बना दिया है। नीचता, कायरता, विश्वासघात, निराशा और पतन का नगा नाच हो रहा है। सभी इस कोलाहल के मारे त्रस्त है; अत. यह कभी सभव नहीं कि हमारे नवयुवक कवियो की कोमल भावनाओ पर इस परिस्थिति का असर न पडे। लेकिन हमें भूल न जाना चाहिए कि कवि का कुछ निजी व्यक्तित्व भी रहता है।

प्रकृति के जर्रे-जर्रे को कवि मुस्कराते देखता है लेकिन सृष्टि के रत्न-मुकुट, विधाता की श्रेष्ठकला 'मनुष्य' को जब वह आर्तनाद करते देखता है तब आखें बन्द नही कर लेता—

"मधुर हास्य के बदले उनको,
आर्तनाद करते देखा।
हाय ! सृष्टि-सम्राटो को,
कर मलमल कर मरते देखा ॥"

देश से हमारी सपत्ति विदेश जा रही है। यह बात भी हमारे कवियो से छिपी नही है—

"सब रत्न और माणिक मोती,
ले गये विदेशी भारत से।
अब रहे हाय ककड-पत्थर,
सब गया, गया हा! भारत से ॥"

आज बहुत से विदेशी भारतवर्ष को परतत्र देखकर उसका उपहास करते है पर कवि कैसे आशा भरे शब्दो मे कहता है—

"जो तेरा उपहास कर रहे,
आज तिरस्कृत कर तुझको।
कल ही वे तेरे कीर्तन से,
गुजित कर देगे पथ-घाट ॥"

मनुष्यो को टुकडो के लिये लडते देखकर कवि की आत्मा भी तिलमिला जाती है और वह गरीबो का खून चूसनेवालो को कितनी सुन्दर फटकार लगाता है—

"हमें भरोसा है यदि तुम भी,
भूखे होते यो न अकडते।
हँसो, आज तो हँसो देखकर,
मानव को कुत्तो-सा लड़ते ॥"

अधिक समय तक बुरे दिन कोई भी नही देख सकता। शान्ति की पराकाष्ठा हो चुकी। कवि कह उठता है-

"रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग-धीर।
पर फिरा हमें गाण्डीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर॥"

हिन्दू-मुस्लिम कलह पर कवि कितनी सुन्दर चुटकी लेता है। दोनो एक ही नौका पर बैठे है और दोनो का एक ही लक्ष्य-स्वराज्य है किन्तु स्वार्थ के कारण अपना-अपना अलग रास्ता निकालने को सोच रहे है-

"अपनी-अपनी पडी इन्हे कुछ,
मिल चलने की चाह नही।
बदल रहे है पल-पल दिशिविधि,
निश्चित कोई राह नही॥"

नवयुवको को आगे बढने के लिये कवि कितने सुन्दर शब्दो में कहता है-

"अपनी अविचल गति से चलकर,
नियति-चक्र की गति बदलो।
बढे चलो, बस बढे चलो,
हे युवक! निरन्तर बढे चलो॥"

भूखे लोगो का चीत्कार अधिक समय तक कवि नही देख सकता। वह तो प्रलय का सामाँ तैयार करना चाहता है-

"विंध्य कँपे, श्मशान जग उठे,
नागराज में आग लग उठे,
प्रलय नृत्य का साज बज उठे
जग देखे साकी के करमें नर मुण्डो की माला!

भारतीय विश्वास के अनुसार दुखो के बढ जाने पर भगवान प्रगट होते है। अत धर्म-प्राण भारतदेश का कवि कहता है—

"वसुदेव देवकी दो ही,
तब दिये दीन दिखलाई,
अब आँखे खोलो देखो,
है दुखी अनेको भाई।
बन्धन से शीघ्र छुडाओ, करुणानिधान अब आओ!"

इसीतरह नवयुवक कवियो की रचना से सैकडो उदाहरण दिये जा सकते है जिनको देखकर यह नही कहा जा सकता कि वर्तमान हिन्दी कवि युग–धर्म से दूर जा रहे है और उनकी रचना लोक–जीवन से कोई सम्बन्ध नही रखती। यह आक्षेप भी अधिक महत्व नही रखता कि उनकी रचना में अस्पष्टता है। इस तरह के आक्षेपो मे शुद्धता होसकती है तो विचित्रता भी कम नही है, क्योकि सभी इस'सत्य' को मानते है कि कवि अपनी देशकालीन-परिस्थिति से कभी नही बच सकता। कुछ लोग पत, प्रसाद, निराला तथा रामकुमार वर्मा आदि कवियो की रचना को छायावाद कहकर मखौल उडाते है और कहते है कि इसी अस्पष्टता के कारण भारतवर्ष की जनता मे साहित्य प्रेम न बढ सका। इस पक्षवालो को पक्ष का दूसरा पहलू भी देखना चाहिए। हमारे यहाँ अध्ययनशीलता की बहुत कमी है। गभीर चितन से सिर मे दर्द होने लगता है। अँग्रेजी, इतिहास या अन्य विषय में एम ए उत्तीर्ण होनेपर अपने को हिन्दी-साहित्य का विद्वान समझने लगते है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि यूरोप के स्वतन्त्र देशो के समान यहाँ शिक्षा-प्रचार भी नही है। सभी कवियो के लिए यह सभव नही कि वे 'गुप्त' जी के ढग की भाषा मे लिखे। कुछ लोग 'मधुवाद' पर ही झल्लाये हुए है। कवि लोगो की इच्छानुसार कविता बनानेवाला जीव नही है। वह तो प्रकृति में अपनी अन्तरात्मा को मिलाकर अपनी इच्छा के अनुसार देश की दुर्दशापर रोता और आँसुओ से लिखता है। काव्य की विचार धारा मे भिन्नता की विविधता रहते हुए भी अभिन्नता रहती है जैसा कि हमारा पिछला इतिहास बतलाता है। यह स्पष्ट है कि आशा निराशा का सघर्ष, वेदना और स्वतन्त्रता के लिये तडपन, जोकि युगधर्म की विशेषता है, वर्तमान हिन्दी काव्य की विचार-धारा मे स्पष्ट परिलक्षित होती है॥

# हिन्दी कविता और छायावाद

विकास के साथ नवीनता का अत्यधिक सम्बन्ध है। प्राचीन साहित्य में हम यदि अद्वैतवाद और रहस्यवाद आदि नाम सुनते थे तो इस युग में अभिव्यंजनावाद और प्रतीकवाद आदि कई नये नये नाम सुनते हैं। किन्तु 'छायावाद' का नाम इतना प्रचलित हुआ है कि पिछले सभी वाद प्रायः इसी में घुले मिले से जान पड़ने लगे। मानो सभी ने इसके साथ समझौता करके इसे अपना अग्रगण्य मान लिया हो। यह कहना असमीचीन न होगा कि हिन्दी में छायावाद के युग का एक निश्चित स्थान होगया है।

प्राय कबीर हिन्दी का प्रथम रहस्यवादी कवि माना जाता है। अपनी परिस्थितियों के कारण उस पर भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी सिद्धान्तों का प्रभाव पडा था। वस्तुत मानव-आत्मा जब सत्य की (ईश्वर) खोज के लिये तडफती है तब उसे सारा ससार ईश्वरमय जान पडता है। यह स्थिति निर्गुणवादी कवियों की ही नहीं वरन् तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्त कवियों की भी हुई थी–

"मोको कहा ढूंढे बन्दे मै तो तेरे पास-मे"

—कबीर

"सियाराम मय सब जग जानी"

—तुलसी

"जित देखौ तित श्याम मयी है"

—सूर

"मेरे पिया मेरे हिरदै बसत है"

—मीरा

यहा तक कि रीतिकाल के कवि बिहारीलाल जी भी कह उठते है—

"एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जहाँ"

इसी से कुछ मिलती-जुलती हालत छायावादीकवियो की भी है।

"प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?
तुम मुझमे प्रिय, फिर परिचय क्या"

—महादेवी वर्मा

"अरे अशेष! शेप की गोदी तेरा बने बिछौना सा
आ मेरे आराध्य खिलालू मै भी तुझे खिलौना सा

—मा ला. चतु.

"तुम तुग हिमालय शृंग
और मै चचलगति सुर सरिता।

—'निराला'

छायावादी कवियो की आत्मा जीवन-मरण के नाटक को देखती हैं उसी तरह ससार की प्रत्येक वायु मे स्थित्यतर तथा परिवर्तन होते देखती है। तब वह इसके कारण की खोज मे निकलती है और एक परोक्ष शक्ति से प्रेम करने लगती है। ऐसी स्थिति मे कवि अपने अस्तित्व को भूला हुआ सा, आन्तरिक वेदना से तडफता हुआ सा और बेहोशी मे बहता हुआ सा अपनी अनुभूति को दुनिया के सामने रखता हैं। जबतक हम अपने हृदय को कवि के हृदय की उँचाई तक नहीं पहुँचा देते तबतक उसकी भावा को अच्छी तरह समझ भी नही सकते, क्योकि साधारण भाषा और अन्तर्जगत् की भाषा एक नही हो सकती। कुछ लोग 'उपयोगितावाद' का प्रश्न उठाकर इन कवियो का महत्व घटाना चाहते है किन्तु कवि का 'स्वान्त-सुखाय' लिखना ही अधिक उपयुक्त है। इसकी रचना से यदि लोगो को उपदेश मिलता है तो यह गौण बात है। वस्तुतः कवि की सच्ची अनुभूति में एक

विशाल मानव जाति का अनुभव छिपा रहता है। ऐसी स्थिति में कवि की रचना का आनन्ददायिनी होना निश्चित है। यदि 'मानस' केवल नीतिप्रद ग्रन्थ होता तो क्या कारण है कि राधेश्याम रामायण में वही वही बाते होते हुये भी वह उस ऊँचाई तक न पहुँच सकी। एक भारतीय जनता का कण्ठहार है तो दूसरा बाजारू लोगो के दिल बहलाने की सामग्री। स्वाभाविक एवं सच्ची अनुभूति कभी लक्ष्यहीन नही हो सकती लेकिन जब उद्देश को आगे रखकर कवि लिखता है तब उसमें कृत्रिमता आजाती है। "व्यक्ति की साधना का क्षेत्र विस्तृत है, चिरतन है, सार्वभौम है, इसके विपरीत राष्ट्रीयतागत आदर्श कालविशेष की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अवतीर्ण हुआ है। समाज के प्रचलित लोकमत और आदर्श में कवि का विश्राम करना उचित नही, क्योकि वह सभी अवस्थाओ में निर्दोष नही होता।" अकोला के साप्ताहिक नवराजस्थान (२ अक्टोबर १९३७) के मुख पृष्ठ पर 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता छपी थी—

"लिए है प्रभु ने भी अवतार,
        भूमि का करने को उद्धार।
सदा ही होता आया किन्तु,
        रक्त रजित कठोर व्यवहार
अहिंसा-सत्य-शस्त्र-सबान
        किया कब किसने युद्ध महान

इस कविता मे आन्तरिक अनुभूति न होने के कारण यहाँ बुद्धकालीन इतिहास का खून हो गया है। सभी जानते है कि बुद्धके अहिंसात्मक आन्दोलन के आगे तत्कालीन नृशस सम्राट भी नतमस्तक होगये थे। "अधिकाश सुधार जिनके साथ गाँधी का नाम जुडा है मूल मे उनके अपने शुरू किये हुए नही है। अहिंसा के प्रचार में शायद वे उसी तरह असफल रह जाय जिस तरह बुद्ध और ईसा असफल रह गये थे।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अब हमे देखना है कि अभिव्यजनावाद तथा प्रतीकवाद क्या है। ये नये 'वाद' हिन्दी मे नया रूप रग धारण करके आये हुये है तथापि इनका बीज या मूलतत्व हमारे प्राचीन साहित्य मे किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है। आचार्य रामचद्र जी शुक्ल का मत है कि "अभिव्यंजनावाद की प्रवृत्ति वाग्वैचित्र्य या शब्दाडम्बर की ओर अधिक है। इस मत के प्रवर्त्तक इटली के 'क्रोसे' महोदय है और यह हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्ति का ही नया रूप है। प्रतीकवादियो का एक सम्प्रदाय फ्रान्स मे खडा हुआ जिसने अनूठे 'रहस्यवाद' और 'कामोन्मादमयी शक्ति' का सहारा लिया। श्री रवीन्द्रनाथ ने अपनी गीताजली का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करके इसी सम्प्रदाय के सुर में सुर मिलाया था। प्रतीको का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्यमे बहुत कुछ अलकार-प्रणाली के भीतर ही हुआ है। 'छायावाद' तो वेदान्त के पुराने प्रतिबिंबवाद का नाम है। यह प्रतिबिंबवाद सूफियों के यहा से होता हुआ यूरोप में गया जहा कुछ दिनो पीछे प्रतीकवाद से सश्लिष्ट होकर धीरे धीरे बग साहित्य के एक कोने मे आ निकला और नवीनता की धारणा उत्पन्न करने के लिये 'छायावाद' कहा जाने लगा। यह काव्यगत रहस्यवाद के लिये गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त का द्योतक शब्द है।" ससार के इतिहास मे आजतक ईश्वर के सिवा पूर्ण ज्ञानी कोई भी न हो सका। अतः स्पष्ट है कि कवि भी उस परोक्ष शक्ति का आभास मात्र पासकते है, साक्षात नही कर सकते। इसी अन्धुक आभास को वेदनाजन्य वेहोशी मे लपेट कर कवि आन्तरिक अनुभूति का काव्य मय चित्रण करता है। हो सकता है कि इसीलिए 'छायावाद' नाम की अवतारणा की गई हो।

## हिन्दी काव्य में 'वेदना' का स्थान

"यदि कोई भावना मनुष्य जाति को एक कर सकती है, तो वह दुख की भावना है। जैसे निशा के अन्धकार में मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाता है, वैसे ही दुख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद भाव भूल जाते हैं।"—विश्वसाहित्य

सौन्दर्य के आंसू उसकी मुसकान से अधिक मनोहर होते हैं।"
—शेक्सपीयर

"दुनिया में दुखिया धन्य है क्योंकि वह सहानुभूति प्राप्त करता है।"
—महात्मा ईसा

"हमारे सबसे मीठे गीत वे हैं जिनमें गहनतम वेदना छिपी हो"
—शेली

"सहानुभूति प्राप्त व्यक्ति ही सुरक्षित रास्ते से चल सकता है"
—वर्डस्वर्थ

यह निर्विवाद सत्य है कि संसार के साहित्य में 'वेदना' का बहुत ऊँचा स्थान है। हिंदी-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। तमसा के तट पर वाल्मीकि की हृदयस्थ वेदना ही मुखरित होकर भारतीय साहित्य की प्रथम कविता बनी। परतन्त्रता के कारण जब देश पतन के गर्त से निकल

कर स्वतन्त्रता की सीढी पर अग्रसर होने लगता है तब उस संक्रमण काल मे वेदना और भी निखर जाती है। हिन्दी काव्य के वर्तमान युग मे भी हम देश की परिस्थिति के अनुसार उल्लास, आशानिराशा और आजादी का स्पदन देखते है तो वेदना, दिल की टीस और मन की कसक कही अधिक।

इस युग के श्रेष्ठ कवि श्री मैथिलीशरणजी भी शायद मानते है–

"वह अलज्ज, जिसके हँसने मे कोई रोना छिपा न हो।"

हमें भूल न जाना चाहिये कि कवि भी मनुष्य है और उसे भी सुख दुख का अनुभव करना पडता है। अपनी पलको का गिरना तथा उठना हम प्रतिदिन देखते है किन्तु इस घटना से जीवन के उत्थान पतन की ओर कवि ही देख सकता है, इसीलिये कवि का स्थान सर्व साधारण से बहुत ऊंचा उठ जाता है। कवि के रोने और हँसने मे भी गभीर अर्थ छिपा रहता है। श्री. 'बच्चन' जी जहाँ दिल भरके हँसते है वहाँ रोने मे भी कमी नही करते–

> मै हँसा जितना कि खुद पर
> कौन हँस मुझ पर सकेगा ?
> और जितना रो चुका हूँ
> रो नही निर्झर सकेगा ?

लेकिन कवि का यह रोना और हँसना कोई विरला ही समझ सकता है। 'द्विजेन्द्र' जी का भी कुछ ऐसा ही मत है–मेघो के हृदय की जलती हुई गम्भीर ज्वाला जब कभी दृष्टिगत हो जाती है तो यह मूर्ख ससार उसे 'बिजली' समझ लेता है, प्रखरतम ज्वाला से निरतर जलते रहने के कारण जब कोई पर्वत हृदय की करुण धारा बहाता है तो यह नादान दुनियाँ उसे 'झरना' समझ लेती है, ससार से अन्धकार का राज्य हटाने के लिये जब दिवस उससे घोर सग्राम करता है तब उस रक्तरजित युद्धभूमि को यह हृदयहीन ससार 'उषा की लालिमा' समझता है, अन्तरात्मा में सोया हुआ सन्ताप जब निर्ममता की चोट खाकेर लडखडाता हुआ बाहिर निकलता है

तो जगत उसे 'कविता' समझता है; वस्तुत किसी के हृदय को समझना सरल नहीं है–

"किसी का हृदय न कोई हाय !
सका है सचमुच अब लौं जान ।
जगत् ! धिक तेरे ये सब ज्ञान !
हृदय की जो न हुई पहिचान ! !"

स्वार्थी ससार गरीबो की मूक-रुदन करती हुई साकार 'वेदना' को अवहेलना की आखो से देखता है । 'मिलिन्द' जी के शब्दो मे शायद राष्ट्र की अन्तरात्मा मुखरित हो गई है–

'हाय, हृदय का हाल किसी का
कभी सजनि ! किसने जाना ।
कौन बँटाने आया जग में
किसी हृदय का मूक रुदन ?"

जिसने जाग जाग कर कई रात्रिया दिवस में न बदल दी हो वह हृदय हीन जीवन की सार्थकता तथा दूसरो के हृदय की गहराई को नहीं जान सकता–

"राते न बिताई जिसने,
झर झर आसू बरसाते ।
वह क्या जाने जीवन को
जो शुष्क–हृदय ले आते ॥"

दुखिया के रोने का उद्देश्य अपनी वेदना को कम करना ही नहीं रहता, वरन हाहाकार मचा कर उसकी व्यापकता प्रगट करके दूसरो को द्रवीभूत करना भी रहता है, किन्तु इस स्वार्थी जगत की नीचता श्री भगवतीचरणजी वर्मा के शब्दो में सुनिये–

"स्वार्थी विश्व, कौन करता है,
किसी दूसरे की परवाह ।
हम हैं रोते, वे हसते हैं,
उनकी हँसी हमारी आह !"

गर्मी से सतप्त पथिक जिस वृक्ष के नीचे शान्ति प्राप्त करता है, चलते समय उसीकी डालियाँ भी तोड लेता है। स्वार्थ में अन्धी दुनिया की हृदय हीनता की हद हो गई! सब अपनी फिक्र करते है, दूसरो की परवाह नही–

"आतप से आक्लान्त पथिक
यदि कोई भी आ जाता है,
कर लेता विश्राम, तोड डाली को
फिर ले जाता है।
यहाँ भलाई के बदले भी
सदा बुराई मिलती है,
लगे हुए अपने ही मे सब
किसमे किसकी गिनती है॥"

पत जी तो कलाकार उसे मानते है जो कला के कृत्रिमपट मे जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियो का निर्माण करने के बदले अस्थि–मास की इन सजीव प्रतीमाओ मे अपने हृदय से सत्य की सासे भरता है उन्हे सम्पूर्णता का सौंदर्य प्रदान करता है, उनके हृदय–दीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है। इसीलिये श्री महादेवी जी वर्मा शायद मानवी–सजीवता का करुण–क्रन्दन देखना चाहती है––

"तुझमे अम्लान हसी है,
इसमें अजस्र आँसू जल,
तेरा वैभव देखू या
जीवन का क्रदन देखू ?

श्री गोपालशरण सिह तो 'वन–रोदन' को भी व्यर्थ नही समझते, क्योकि वन–कुसुम उसे सुनते है, पेड अपने पत्ते हिलाकर उसे सात्वना देते है, प्रतिध्वनि सहानुभूति प्रगट करती है और पवन उसको विश्वमें फैला देता है–

"विफल नही है वन–रोदन!
उसको सदा सुना करते है,

कान लगाकर सुमन-सुमन,
सजनी रो-रो कर मैं कर दूं,
क्यों न भला गुंजित कानन ?"

संसार की रंगस्थली पर सम्राटों के सिंहासन धूल में मिलते देखे और बाजारू गलियों में घूमने वाले के सिर पर रत्न मुकुट भी चढ़ते देखे। दुनिया के रंगमंच पर दुरंगेपन के साथ विचित्रता भी है। कुँवर सोमेश्वर सिंह के शब्दों में सुनिये—

इस रंगमंच पर कितनों,
को आते जाते देखा।
कितनों को रोते देखा,
कितनों को गाते देखा॥
हँसते-हँसते जो आये,
आंसू बरसाते देखा।
दानी को अपना सूना,
आँचल फैलाते देखा॥

संसार की यही अवस्था देखकर स्वर्गीय 'प्रसाद' जी के हृदय में शायद वेदना हाहाकार मचा रही थी—

"उस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिणी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?"

इस युग के हिन्दी काव्य में हम देखते हैं कि हमारे कवियों ने देश की वेदना से अन्तर्जगत का समन्वय कर अपनी अनुभूति को आंसुओं से लिखा है, सम्भव है वे निकट भविष्य में हृदयस्थ खून के कतरों से लिखने लगें। हम 'नवीन' जी के शब्दों में कहेंगे—

"प्राणों के लाले पड़ जायें,
त्राहि त्राहि रव नभ में छाये,

बरसे आग, जलद जल जाये
भस्मसात् भूधर हो जायें
नभ का वक्षस्थल फट जावे;
तारे टूक टूक हो जायें
अंतरिक्ष मे एक उसी नाशक
तर्जन की ध्वनि मँडराये
नाश! नाश! हा महानाश!!! की
प्रलयकरी आंख खुल जाये,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाये।"

स्वार्थी ससार जब केवल आश्वासनो से आसू पोछता है तब भला वह एसा क्यो न करेगा ?

श्री. गगाप्रसादजी पाण्डेय वर्तमान काव्य में वेदना का कारण अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम का असामजस्य, कामनाओ की विफलता, सौन्दर्य बोध की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओ के प्रति सवेदनशीलता, तथा रहस्यात्मक वियोग व्यथा आदिबातो को मानते है ।

## हिन्दी कविता में 'अनलगान'

वर्तमान हिन्दी काव्य में 'वेदना' की प्रधानता है किन्तु वेदना और विप्लव का घनिष्ट सम्बन्ध है। एक की 'इति' मे दूसरे के 'अथ' का आभास छिपा रहता है।

आज वर्तमान हिन्दी-कविता 'अनलगान' की ओर अग्रसर होरही है। जहाँ कोटि-कोटि मानव प्राणी हमारी अहमन्यता के कारण बिना अन्न-जल के पशुओ की तरह पृथ्वी पर नग्न स्थिति में पडे रह कर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हो, जहाँ हमारे प्रतिभाशाली मस्तिष्क हमसे ही ठुकराये जाकर अपने अपमानित शरीर को ईंट-पत्थरो के नीचे सुला कर आँसू बहा रहे हो, जहाँ देश की देवियाँ हमारी ही मूर्खता से अपनी इज्जत का सौदा रोटी के टुकडो पर करने के लिए मजबूर की जाती हो, जहाँ सोने-चाँदी के टुकडो पर मानवता बिक रही हो वहाँ का कवि यदि तड़प कर कह उठे—

"सावधान ! मेरी वीणा मे,
चिनगारियाँ आन बैठी है !"

तो यह स्वाभाविक है। हमें नतमस्तक होकर उसका स्वागत करना चाहिए। और भी असावधान रहे तो उसे यह कहते देर न लगेगी—

"चकना चूर करो जग को,
गूँजे ब्रह्माड नाश के स्वर से"

उपर्युक्त चित्र कल्पना से नही खीचा गया, वह तो राष्ट्र के काले पहलू का एक इतिहास है। सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है। इसको पार करने के बाद दर्शन होते है तूफान, संघर्ष, उथल-पुथल, विप्लव, क्रान्ति और एक दिन 'क्रान्ति' के हाथ अपनी बहिन 'शान्ति' के गले की शोभा बढाते देखोगे। यहाँ लेखक का उद्देश अपना मत प्रगट करना नही, वरन् हिन्दीसाहित्य की गति विधि को तोलना और उसकी विचार-धाराओ की विभिन्नताओ की ओर सकेत करना है। अस्तु,

'अनल गान' गाने वालो मे हमारे तेजस्वी कवि पडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' बहुत आगे बढे हुए है। पता नही क्यो कुछ लोगो ने उन्हे छायावादी स्कूल का श्रृंगारी कवि समझ लिया। वे तो ससार का स्वागत उसके गले मे अगारो की माला डालकर करना चाहते है—

"अनल गीत तू गा निर्भय,
घिर आए ज्वलन्त ज्वाला,
तू पहिनादे जग-ग्रीवा मे
यह अगारो की माला।"

श्री सर्वदानन्दजी वर्मा तो चाहते है—

"निज सरल कण्ठ से देवि आज,
फिर गौरव रण हुकार करो।"
"वह प्रलय-वन्हि धधका दो माँ
फिर से वह हाहाकार करो।"
"वह महा प्रलय फिर एक बार
हे जननि बुला दो भूतल पर।"

श्री हरिकृष्णजी प्रेमी कहते है—

"तहस नहस करदे दुनिया को,
ऐसी लहर नहीं क्यो आती?
मेरी अपमानित वीणा भी,
इसी क्रान्ति के गीत सुनाती।"

कोमल भावनाओं वाले 'पन्त' जी भी छिपे शब्दों में कुछ यों ही कहते नजर आते हैं—

"गा कोकिल, बरसा पावक कण,
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वस-भ्रंस जग के जड़ बन्धन,
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानव-पन।"

शान्तिप्रिय श्री सियारामशरणजी भी कह उठे—

"मृत्युंजय इस घट में अपना,
कालकूट भर दे तू आज,
ओ मंगलमय! पूर्ण सदाशिव,
रुद्र रूप धर ले तू आज।"

यह सब क्या है? क्यों है? किस लिए और कब तक? राष्ट्र की आत्मा क्या चाहती है यह 'पन्त' जी के ही शब्दों में सुनिये

"गूंजे जयध्वनि से आसमान
सब मानव मानव हो समान।"

अब यह कहना अनावश्यक है कि वर्तमान हिन्दी कविता में वेदना के पश्चात् दूसरी कौन सी शक्तिशाली लहर तेजी से आगे बढ़ रही है।

# हिन्दी साहित्य और महात्मा गाँधी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक-हिन्दीकाल के एक ऐसे शक्तिशाली कलाकार थे, जिनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। हिन्दी-साहित्य को तत्कालीन विचार-धारा को अपने ढग से बदलने मे वे बहुत कुछ समर्थ हुए। हिन्दी-साहित्य के सभी क्षेत्रो मे उनकी पहुँच थी और हिन्दी के प्रति उनकी मनसा-वाचा-कर्मणा सेवाएँ महान है। उस चमकते हुए चाँद ने हिन्दी साहित्याकाश को जगमगा दिया। हिन्दी प्रेमियो ने एक मन से उन्हे युगनिर्माता माना और इसलिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे साहित्य के विद्यार्थी 'भारतेन्दुयुग' के दर्शन करते है।

कुछ वर्षो के बाद एक जबरदस्त साहित्य शक्ति ने सेवा की भावना लेकर हिन्दी साहित्य मे प्रवेश किया। प० महवीरप्रसादजी द्विवेदी का नाम भूला नही जा सकता। भिन्न भिन्न-विषयो के लिए शैलियाँ निर्माण करना और व्याकरण की दृष्टि से भाषा की शुद्धता उनकी खास अपनी विशेषता है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विशाल भवन की भित्तियो के नीचे अपनी पैनी दृष्टि से यदि कोई सहृदय देखने का प्रयत्न करे, तो वहा एक-एक पत्थर पर द्विवेदीजी का नाम दिखाई देगा। भारतेन्दु के बाद "द्विवेदी-युग" का यही मोटा रहस्य है।

वर्तमान काल में मैथिलीशरणजी, प्रसादजी, प्रेमचन्द्रजी तथा आचार्य शुक्लजी ने अपने-अपने सीमित क्षेत्रो मे चाहे युगान्तर उपस्थित कर दिया

हो, किन्तु भारतेन्दु या द्विवेदीजी की तरह हिन्दी-संसार पर एकछत्र राज्य करनेका सौभाग्य किसी को भी नही मिला ।

महात्मा गाधी विश्व की विभूति और भारत के गौरव है । महायुद्ध के कुछ दिन पश्चात् शायद सन १९२० मे उन के व्यक्तित्व का निखरा हुआ रूप हमे देखने को मिलता है । आडम्बर रहित सच्चो भारतीयता के वे कट्टर भक्त है । मिस्टर की जगह 'श्रीमान्' लिखना, अन्य विश्वविद्यालयो की 'डाक्टरेट' उपाधि की उपेक्षा करके सम्मेलन की 'साहित्य-वाचस्पति' उपाधि को स्वीकृत करना, चारो ओरसे भयकर विरोध होते हुये भी हिन्दी का पक्ष न छोडना, खादी को अपना जीवन बना लेना आदि ऐसी बाते है, जिनसे उनका भारतीयसंस्कृति के प्रति अगाध प्रेम प्रगट होता है । देश के प्रति उनकी सेवाएँ अकथनीय है । 'अछूतोद्धार' का आन्दोलन उठा कर उन्होंने हमे अपने उपेक्षित भाइयो से प्रेम करना सिखाया । मैथलीशरणजी के 'अनघ' काव्य का नायक 'मघ' शायद महात्माजी के ही शब्द दुहरा रहा है ।

जिन्हे घृणा करते हो वे ही
हे इस योग्य कि प्यार करो,
अपने मनुष्यत्व का उनके
मिस से तुम उद्धार करो ।
पापी का उपकार करो, हाँ,
पापो का प्रतिकार करो,
उठो, उठाओ, बढो, बढाओ,
तरो, तार कर पार करो ।

बीसवी सदी की महिलाए महात्माजी के उपकार को भूल न सकेगी । उन्होने सिद्ध कर दिया है कि स्त्रियो की कार्य-क्षमता पुरुषो से कम नही है । जीवन के हर एक क्षेत्र मे वे सफलता के साथ आगे बढ़ सकती है । गुप्तजी की 'उर्मिला' और 'यशोधरा' इस युग की प्रेरणा से प्रभावित है । वर्तमान काव्य, कहानी, नाटक और उपन्यास का कोई स्त्री पात्र इस युग के स्त्री आन्दोलन से न बच सका । अभी तक हम 'स्त्री' के असली स्वरूप को भूले हुए थे, अब हमारे सामने एक प्रश्न है-

हाय ! वधूने क्या वर की ही
एक वासना पाई ?
नही और कोई क्या उसका
पिता पुत्र या भाई ?

किसानो का सवाल महात्माजी की आखो में बडा महत्वपूर्ण है।' इससे अधिक और क्या हो सकता है कि एक बॅरिस्टर अपने को स्वय किसान मे परिवर्तित करले। इसी का परिणाम है कि देश अनुभव करने लगा—

"अरे फिरत कित बावरे, भटकत तीरथ भूरि।
इन किसान कुटियान की, क्यो न धरत सिर धूरि ॥
मरिहौ करि-करि जोर कोउ, कितनेउ गाल बजाउ।
बिना किसानन के उठे, नहि स्वतन्त्रता पाउ ॥"

हिन्दु-मुस्लिम एकता एव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जोरदार प्रचार शताब्दियो के बाद अधिक• शक्ति एव कट्टरता से महात्माजी ने किया और हमारे उदीयमान युवक कवि झूम कर गा उठे

कह नही सकता कि कब तक,
रूप निज पहिचान लूगा।
हिन्दू, इसाई और मुस्लिम,
एक है सच मान लूगा ॥
देश और विदेश क्या निज
देश सब मै मान लूगा।
सौख्य-सम्पद, धर्म बन्धन
तक धरा पर वार दूगा ॥

सत्य और अहिंसा तो प्राचीन भारत का सुनहला सिद्धान्त है। महात्माजी ने उसे फिर दुहरा दिया और हमारे कवि गुनगुनाने लगे—

दो यही आशिष, अहिंसा, सत्य हो साधन हमारे,
विश्व के कल्याण पर बलि हो विमल तन मन हमारे,
कर सके हम मुक्त अपना देश भारतवर्ष प्यारा।

ग्रामो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर के महात्माजी ने हमारी जीवन-धारा को तडक-भडक से हटा कर सादगी की ओर मोड दिया। हमारे उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की कृतियो में तो हम ग्रामीण-जीवन का सजीव-चित्र देख सकते हैं। 'साकेत' की सीता का "मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया" गीत हमें ग्रामो की ओर खीचता है।

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ 'द्विवेदी-युग' के बाद 'गाँधी-युग' सिद्ध करना नहीं, वरन् बतलाना है कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य की विचारधारा पर द्विवेदीजी के पश्चात् महात्माजी के व्यक्तित्व का बहुत अधिक प्रभाव पडा है।

# हिन्दी साहित्य और साम्यवाद

मानव–हृदय के अन्तर्जगत का वाह्यप्रकृति से सम्मिलन होनेपर यदि साहित्य सृष्टि होती है, तो मानना पडेगा कि मानव-समाज और साहित्य का घनिष्टतम सम्बन्ध है। वर्तमान समाज जितनी विभिन्नताओं में से होकर गुजर रहा है, साहित्य की विचारधारा भी उतने ही 'वादो' मे विभक्त होकर आगे बढ रही है। वर्तमान साहित्य मे वेदना और क्रांति की भावनाओ का खास कारण है, उसी तरह 'गांधी–वाद' का भी, किन्तु हिन्दी-साहित्य मे एक ऐसी भी लहर बहुत जोरो से चल रही है जिसके असर से हमारा बडे से बडा लेखक भी न बच सका। विद्वानो का मत है कि सच्चा कलाकार वादो के कटघरे मे नही फँस सकता। वस्तुत यह सत्य है, लेकिन कलाकार की अन्तरात्मा वाह्य जगत् से अपना नाता नही तोड़ सकती, अत स्पष्ट है कि लेखक जिन परिस्थितियो के बीच मे पलता है, जहाँ से अपने साधन इकट्ठे करता है और प्रेरणा पाता है उस वातावरण की ओर से आँखे बन्द नही कर सकता। प्रेमचन्दजी आदर्श-वादी लेखक थे किन्तु उन पर भी साम्यवाद अपना गहरा प्रभाव छोड गया है। चाहे वह किसी रूप व अंश में क्यो न हो। यह कहना असमीचीन न होगा कि हिन्दी साहित्य की वर्तमान विचारधारा मे साम्यवादी विचार तूफानी गति से आगे बढ रहे है।

सदियों से गिरी हुई मानवता अब उठना चाहती है। उसके हृदय में आग लग रही है– आजादी के लिए, खोये हुए अधिकारों को प्राप्त करने के लिए और ऊपर उठने के लिए। महात्मा गांधी ने इस बात को समझा और सत्य तथा अहिंसा के बल पर इस धधकती आग को शांत करना चाहा, लेकिन ठुकराया हुआ हृदय चीख उठा।

तुम करो शान्ति समता प्रसार,
विप्लव! गा अपना अनलगान!

सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त इतना सुन्दर, शुद्ध और कल्याणमय है कि इसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते किन्तु दुरंगी दुनिया अपना दूसरा पहलू भी रखती है।

हर एक पक्ष अपने विरोधियों को अनुभवहीन, नासमझ और पागल समझता है किन्तु इस स्पष्ट सत्य को छिपाया नहीं जा सकता कि दोनों पक्षों में प्रखर प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान हैं और उनका पाण्डित्य विश्व-विख्यात। सभी जानते हैं कि संसार की "गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार" वाली परिभाषा न बदल सकेगी। 'अहिंसा परमो धर्म' कहने वाले विद्वान थे किन्तु 'शठेशाठ्य समाचरेत्' कहने वाले भी मूर्ख नहीं थे। एक तमाचा खाकर दूसरा भी खाने के लिए तैयार होने वाला आदमी महापुरुष हो सकता है किन्तु 'मुहूर्त ज्वलित श्रेय न च धूमायित चिरम्' का उपदेश देने वाला बेवकूफ नहीं हो सकता। "बुद्धिर्यस्य बल तस्य' कह कर बुद्धिमानी प्रकट की गई लेकिन यह कैसे समझ लिया जाय कि सैकड़ों विद्वानों को 'एको बलवान कम्पयते' कहने वाले ने नासमझी प्रकट की है। आज भी एक पक्ष महात्मा गाँधी की महानता को असीम मानता है, तो दूसरा पक्ष कहता है–महात्माजी उसी समय तक महान रहेंगे, जब तक कि वे भारतवासियों की विद्रोह की भावना के प्रतिनिधि रहेंगे। अत उनकी महानता असीम नहीं है। वस्तुत सत्य तो यह है कि सिद्धान्त तो समय और परिस्थितियों के अनुसार यों ही बदला करते हैं। उसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। 'सत्य' की मूर्ति धर्मराज युधिष्ठिर भी समय आने पर 'अश्वस्थामा हत नरो वा कुजरो वा' कह सकता है और मौका आने

पर कांग्रेस मिनिस्टरी मजदूरो पर गोली वार भी करवा सकती है; तब पीड़ित मानवता की पुकार सुन कर कोई कह उठे—

आज प्रलय की वन्हि जग उठे
जिसमें शोला बने विराग।
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ,
महानाश सी मेरी आग॥

तो घबराने की जरूरत नही है और न हमे किसी के विचारो को 'छुकडपन' कहने का अधिकार है। जब तक गरीबो की इज्जत खतरे से खाली नही हो जाती, तब तक हमे सुनना होगा—

दुनियाँ क्या है? वेश्यालय है।
कहाँ रहे अब इज्जत वाले?
येहाँ वही रह सकता है, जो
पीता वेशर्मी के प्याले!

इसी तरह यहाँ कगाल किसानोकी अवहेलना होती रही, तो वे दिन बहुत नजदीक आ जायेगे कि जब हमें यह दृश्य भी देखने को मिल जाय और कई जगह तो मिल भी गया है—

"गरीबो की जिव्हा ने लपलपाती जिव्हा से,
अमीरो को घसीट कर आलिंगन किया
कगालो की जठराग्नि ही बडवाग्नि
कगाल ही कलियुग का आखिरी कल्कि।"

इसमें गरीबों का क्या कसूर? जब तक उनकी रोटियों का सवाल हल नही हो जाता, तब तक हमें यह सुनने को भी तैयार रहना चाहिए—

प्रेम-शान्ति सन्तोष सुखो में,
ओ मेरे कवि आग लगा दो।
उठने दो भूकम्प भूमि पर
प्रलयकर सागर होने दो॥

त्याग और सहनशीलता के कारण भारतीय महिलाएँ विश्व-साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखती है किन्तु वर्तमान युग मे ऐसे सुधारको की

भी कमी नही जो कहते हैं कि इन्ही गुणो ने हमारी वहिनो को कमजोरी के उस गड्ढे में ढकेल दिया। जिसके वाहर निकलने का साहस उन्हे कई पीढियो के वाद अव हुआ है। इस वात को सभी मानते हैं कि हमें आदर्श की ओर चलना चाहिए किन्तु सम्भव है कि आदर्श भी देश काल के अनुसार वदल जायें। हमारे कई रीति-रिवाज किसी जमाने मे अच्छे थे, आज वे वुरे हैं। मानव-कल्याण के लिए सत्य के आधार पर वने हुए विश्वव्यापी सिद्धान्त न भी वदलते हो, पर इसकी कसौटी तो 'समय' है जो खुद अपना इतिहास प्रकट करता है।

# हिन्दी साहित्य और प्रगतिवाद

'प्रगतिवाद' क्या है ? कहा से आया ? क्यो आया और इसका भविष्य क्या है ? इन प्रश्नो का उत्तर सरल भी है और कठिन भी। सहृदयो के लिये इसलिये सरल है कि वे अपनी आत्मा के प्रति ईमानदार है और "बैल खडा रहकर भी सिर हिला सकता है" के समान किसी तेली को उत्तर देने वाले बुद्धिवादी पण्डितो के लिये कठिन भी है क्योकि वे देखकर भी आँखे बन्द रखना चाहते है। आप 'प्रगतिवाद' को छायावाद की प्रतिक्रिया समझिये या राजनीति के समाजवाद का हिन्दी साहित्य मे नामान्तर। कोई इसे अन्तर्राष्ट्रीय मान ले या राष्ट्रीयता, यथार्थवाद और जडवाद मे लिपटा हुआ समाजवाद किन्तु भविष्य बतलायेगा कि हिन्दी साहित्य के प्रवाह मे बहनेवाली अन्य अन्तरधाराएँ इस प्रगतिवाद की शक्तिशालिनीधारा को कभी नही दबा सकेगी और इसका अपना निश्चित स्थान रहेगा तथा उज्वल एव स्मरणीय इतिहास जो समाज की कायापोलट करने की शक्ति रखेगा।

हम मानते है कि मानवता की व्याख्या केवल शोषित वर्ग को ही आधार मानकर नही की जा सकती किन्तु मानवता की बाते हमे शोषित वर्ग को देखकर ही याद आई है। कुछ लोग यह भी दलील पेश करते है कि सुख दुख के अनुभव सर्वहारा और पूजीपतियो के समान है, अत इस सम्बन्ध मे मानव की सामाजिक परिस्थितियाँ कोई अन्तर उपस्थित नही करती। इन भोले आदमियो को अनुभव ही कहाँ हुआ है कि पूजीवादियो

के सुखदुख उन्ही तक सीमित होते हैं। वे तो सरेआम मानवता को खरीद रहे हैं और इसलिये वह उनके परो के पास पडी सिसक रही है। पवित्र एवं निश्छल मानवता के दर्शन हमे गरीबो मे ही हो सकते हैं। प्रगतिवाद की धारा को इसके विरोधियो ने भारतीय भावना के प्रतिकूल, एकागी, अपूर्ण ढोगी, हानिकारक, नीरस, अनैतिक, घासलेटी, भयावह, अवाछनीय और अमान्य आदि इतने विशेषण दिये हैं कि 'विष्णुसहस्त्र नाम' की तरह एक नया 'प्रगतिवाद सहस्त्र विशेषणम्' बन गया है। हम तो इने प्रगतिवाद की लोकप्रियता का सब से बडा प्रमाण समझते हैं क्योकि हमारी विकार ग्रस्त बुद्धि प्रगतिवाद का सामना करने मे असमर्थ होगई है। ऐसी स्थिति मे 'विशेषण माला' के सिवा हम कर भी क्या सकते थे। भारतीय विचार धारा के अध्ययनशील विद्वान अच्छी तरह जानते हैं कि यहा किसी नई विचार धारा का विरोध किस तरह होता है और बाद मे विरोधक ही उसके भक्त किस प्रकार बन जाते हैं।

'प्रगतिवाद' का इतिहास बतलाते हुये एक विद्वान ने लिखा है कि सन १९३५ नवम्बर मे 'विश्व का प्रगतिशील लेखक सघ' लन्दन मे स्थापित हुआ था और डॉ मुल्कराज आनन्द तथा सज्जाद जहीर उसके पवर्तको में ने थ। सन १९३६ मे इसका पहिला अधिवेशन लखनऊ मे हुआ जिसके सभापति प्रेमचन्दजी थे। वैसे तो पिछले एक हजार वर्षो मे कलम पकडनेवाला प्रत्येक लेखक अपने को प्रगतिवादी कह सकता है किन्तु सामाजिक वैषम्य को हटाकर साम्य स्थापित करनेवाला लेखक ही आज प्रगतिवादी कहलाता है। हम देख रहे हैं कि पत, निराला, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, नरेन्द्र शर्मा, रामवृक्षबेनीपुरी, यशपाल, अज्ञेय, अचल, बच्चन, उग्र, रामविलास शर्मा, नवीन, दिनकर आदि कई लेखक जाने या बेजाने प्रगतिवाद की ओर बढ रहे हैं अत इस विचारधारा की शक्ति मे अविश्वास करना पागल पन है।

आजकल कुछ लोग यथार्थवाद से खूब घबरा रहे है। इस लिये उन्होने उग्रजी को "प्रति हिंसा और यश लोलुपता के कारण साहित्य में कुरुचि का विस्तारक" कह दिया है किन्तु ऐसे आलोचक उन्हे रास्तेपर नही ला सके क्यो कि समाज का सत्य उनके साथ था। कुछ लोग ऐसे भी हैं जिन्हे हिन्दी

मे अभीतक शुद्ध यथार्थवाद के दर्शन नही हुये। वे कहते है कि सबसे पहिले फ्रेंच लेखक गुस्तेव फ्लम्बार ने प्रगतिवाद के नामपर यूरोप मे विद्रोह का झण्डा खडा किया और बाद में मोपासा, जोला और ईमर्सन आदि ने उसका प्रचार किया। मानो हमारे समाज की परिस्थितियाँ यथार्थवादी साहित्य के लिये मजबूर नही करती और हमारे सिरपर यूरोप की नकल का भूत सवार है। ऐसे लोग प्रेमचन्द को मानवीय यथार्थवादी, प्रसाद को नियतिवादी यथार्यवादी, वृन्दावनलाल वर्मा को रोमाण्टिक यथार्थवादी, बेनीपुरी और यशपाल को समाजवादोन्मुखी यथार्थवादी, जैनेन्द्रको रहस्यवादी यथार्थवादी भगवती चरण को विद्रोही और सर्वदानन्द वर्मा को नग्न यथार्थवादी मानते है। किन्तु इन्हे शुद्ध यथार्थवादी कोई नजर नही आता। कोई कैसा भी यथार्थवादी लेखक हो ऐसे आलोचक उसमे विशेष प्रकार का यथार्थ वाद ढूढ लेगे। अत न तो कोई शुद्ध यथार्थवादी लेखक उन्हे मिल सकता है और न उनका यथार्थवाद के इन अलग अलग टुकडो से सतोष हो सकता है। हमारा निजी खयाल है कि ऐसे अलोचक को यथार्थवाद के दर्शन हो ही नही सकते क्योकि कोई भी 'यथार्थ' उन्हे किसी का 'टुकडा' ही नजर आयेगा।

# हिन्दी साहित्य और 'प्रेमचन्द'

बाबू धनपतराय बी. ए संसार में नही है किन्तु 'प्रेमचन्द' का नाम प्रलय के अन्ततक हिन्दी साहित्य में अमर रहेगा। पूजीपतियो के जुल्म और अत्याचार से प्रपीडित होकर जब भारत का दीन हीन किसान एवं परपरा से पद दलित एक विशाल जनसमूह विचलित हो उठा तब उसका पक्ष लेने के लिये 'प्रेमचन्द' का प्रादुर्भाव हुआ। हमारे राजनैनिक नेता जब खोई हुई आजादी को प्राप्त करने के लिये शहरो में जाग्रति का शख फूक रहे थे तब यह देहातियो की मनोवृत्तियो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ग्रामीण साहित्य का निर्माण कर रहा था। वस्तुत साहित्य क्षेत्र में 'प्रेमचन्द' ने वही कार्य किया है जो बीसवी शताब्दी मे भारत के एक बडे नेता को करना चाहिये था और वही लिखा जिसके लिये भारत के करोडो दुखियो ने एक साथ माँग की।

'सेवासदन' की नायिका सुमन को पतन के गर्ततक ले जाकर चतुरता से बचा लिया और दहेज तथा वेश्या प्रथा आदि भारतीय दुर्बलताओ का चित्र खीच दिया। 'रगभूमि' के नायक सूरदास चमार में गाँधीजी की रूह उतार दी। 'कर्मभूमि' मे राष्ट्रोत्थान के लिये गरीबो और दलितो का सुधार आवश्यक बतला दिया। 'प्रेमाश्रम' मे प्रेमशकर और विद्या के बहाने आदर्श चरित्रो का निर्माणकर गायत्री के चरित्र-चित्रण मे कमाल कर दिया, साथही जमीदारो का कर्तव्य और किसानो की दयनीय दशा का खाका खीच

दिया । 'निर्मला' में विधुर विवाह के बुरे परिणाम को बताकर 'गबन' में छोटी छोटी बुराइयो से मनुष्य जीवन में परिवर्तन दिखा दिया । 'प्रतिज्ञा' में भारतीय स्त्री आन्दोलन का प्रभाव दिखलाकर 'कायाकल्प' मे मनोरमा के प्रेम का बलिदान और सात्विक प्रेम का दिग्दर्शन करा दिया।

'प्रेमचन्द' जी की भाषा चलती हुई टकसाली हिन्दी है जिसको 'हिन्दुस्थानी' कह सकते है। कही कही अँग्रेजी शब्द भी आगये हैं। विषय एवं पात्रो के अनुकूल शैली की विविधता के साथ बदलती हुई ऐमी मुहावरे दार मँजी हुई सजीव भाषापर इतना अधिकार 'भारतेन्दु' के बाद इनकाही मिलता है। रचना मे कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहाँ गद्य काव्य का सा आनन्द आता है, साथ ही जीवन के अनुभव का सत्य निचोडकर बीच बीच मे सुन्दर सूक्तियो के रूप मे रख दिया है।

जिस युग में आपत्तियो के भूकम्प से बेहाल किसानो का अनाज उनके दुर्दिन मे खरीदकर दुर्भिक्ष पीडित जनता को कसकर बेचा जाता हो और उनकी वर्षो की गाढी कमाई दिनदहाडे एक दिन मे लूटली जाती हो, उस युगमे किसानो, अछूतो तथा पददलित लोगोको अपने उपन्यासो का नायक बनाकर इस दूरदर्शिता से काम लेनेवाले 'प्रेमचद' का नाम ग्रामीण भारतीय अपने जीवन की अन्तिम घडियो तक न भूल सकेगे। बडी बडी अट्टालिकाओ पर आसीन होकर जो स्वार्थान्ध पूजी पति जिन दीन दुखियो की आत्माओ के साथ अठखेलियाँ कर रहे हैं उन्हे क्या पता कि ये शाही प्रासाद गरीबो के खून मे बुझाई गई ईंटो की भित्तिपर खडे हुए हैं। यदि वे ही खिसक गई तो इन गगन चुंबित भवनो को भरभराकर भूमिपर लोटते देर न लगेगी। क्षुधा की ज्वाला से तडपते हुए अपने भाइयो को नराधम की तरह देखनेवाले जब किसी जख्मी दिल द्वारा अपनी खोपडी फटने का आभास पाते हैं तब दीन बनकर उन्ही भूखे भाइयो से आशा करते है कि वे हथेलीपर सिर रखकर अपने पूजीपति भाइयो की रक्षा करे। कितनी विषमता ! एक ओर मुट्ठीभर अनाज और दूसरी तरफ प्राणो की बाजी ! ! अन्याय की भित्तिपर खडा रहकर हँसनेवाला पूजीवाद जिस 'प्रेमाश्रम' में धाँय धाँय करके जल रहा है उसके लेखक को 'प्रेमचन्द' के नामसे दरिद्र भारतीय चिरकाल तक पहिचानते रहेगे।

"सेवासदन" का कृष्णचन्द्र नदी मे डूबकर, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री पहाड से गिरकर और 'रगभूमि' में विनय पिस्तौल से अपने प्राण देता है। उसी तरह कुछ पात्रोपर पश्चिमी रग भी चढा हुआ है किन्तु हमे भूल न जाना चाहिये कि 'प्रेमचन्द' जी 'ग्रेज्युएट' थे अत अग्रेजी साहित्य से अछूत की तरह दूर रहना भी उनके लिये सभव न था। सुधारक के नाते भाषाके साथ उनके विचारो मे भी साम्प्रदायिक उदारता थी। 'गोदान' उनकी अन्तिम रचना है जिसका नायक मुसीबतो की मूर्ति और सहनशीलता का पुतला होरी नामक किसान है। गरीबो का यह आदर्श एव अमर कलाकार अपनी परिस्थितियो से लडते हुए अन्तिम 'गोदान' के समय कुछ यथार्थवाद की ओर झुककर बता गया कि व्यवहार में उस आदर्शवाद का कुछ भी मूल्य नही है जिसका यथार्थवाद के साथ समन्वय नही। 'प्रेमचन्द' जीने सैकडो कहानियाँ लिखी है जो सप्तसरोज, प्रेरणा, पाँचफूल, प्रेमतीर्थ मानसरोवर (चारभाग) और कफन आदि नामो से सग्रहीत हो चुकी है। इसके सिवा कर्बला, सग्राम और प्रेम की वेदी नामक तीन नाटक भी लिखे है। बीसवी सदी के हिन्दी उपन्यासकारो में केवल प्रेमचन्दजी ऐसे हैं जिनकी रचनाएँ उर्दू, मराठी, गुजराती, अँग्रेजी और जापानी मे अनुवादित हो चुकी है। यह मानने में सकोच न होना चाहिये कि वर्तमान युग के हिन्दी उपन्यासकारो में 'प्रेमचन्द' का स्थान सबसे ऊँचा है।

## हिन्दी और उच्च साहित्य का निर्माण

सत्य के उपासक गांधी और सौन्दर्य के उपासक रवीन्द्र का भारतवर्ष के ज्योतिर्धरों में बहुत ऊँचा स्थान है। जगमगाते हुए इन दोनों रत्नों से देश को प्रकाश की काफी प्रेरणा मिली है। आज हिन्दी में उच्च साहित्य की आवश्यकता को दोनों ने महसूस किया है। महात्माजी सोचते हैं कि जिसे हम राष्ट्र-भाषा बनाने जा रहे हैं उसमें यदि तेजस्वी साहित्य न रहा, तो लोग हँसेंगे। कवीन्द्र ने भी इशारा कर दिया कि किसी भाषा की ओर कोई क्यों झुके, यदि इसका एक एक शब्द साधना की मजबूत भित्ति पर न टिका हो। हिन्दीवाले क्यों नहीं ऐसे साहित्य का निर्माण करते जिसके आगे संसार का मानवहृदय स्वयं लोटने लगे। देश के अन्य चिन्तन-शील मस्तिष्क भी सोचते हैं कि किसी भाषा का महत्व उसके उज्वल साहित्य की शक्तिपर निर्भर रहता है, उस भाषा के बोलने वालों की संख्या पर नहीं। दुनिया के कई ऐसे राष्ट्र मिट गये जिनकी भाषा के बोलने वाले अनगिनती थे और वे राष्ट्र आज भी जीवित हैं जिनका साहित्य तेजस्वी था। आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं कि जन संख्या के कारण भाषा की प्रमुखता होती तो चीन की भाषा आज जगत की भाषा होती। ग्रीक संख्या में कितने थे? तथापि ग्रीक साहित्य अमर है। साहित्य की साधना में उन्होंने ऐसी कीर्ति रख छोड़ी है कि वह चिर कालतक मृत्य-लोक को अमृत परोसा करेगी। कुछ भी हो, उच्च-साहित्य का निर्माण सभी चाहते हैं।

सब से पहिले हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि हिंदी में उच्च-साहित्य का निर्माण कैसे हो और उच्च-साहित्य किसे कहा जाय। एक पक्ष देश में अमन-चैन की आवश्यकता बतलाकर सूर तुलसी की ओर संकेत कर सकता है तो दूसरा पक्ष इसका उत्तर भी दे सकता है कि बाह्य-शान्ति के युग में हम अपने को भूल चुके थे, अत उस अनुपम साहित्य का कारण हमारे महाकवियो की आन्तरिक बेचैनी थी जिससे कि हमारे हृदय से राम-कृष्ण का नाम दूर न हट सका। औरंगजेब के नादिरशाही जमाने मे भी जब कि कला का जनाजा निकाला जा रहा था, भूषण के समान अनूठा कवि पैदा हो सकता है। वास्तव मे शान्ति के समय तो प्राय मधुर गीत ही गाये जा सकते हैं या स्वार्थवश धनवानो की तारीफ के पुल बाँधें जा सकते हैं, चिनगारियो के लिए तो घर्षण की जरूरत होगी। जब दिल मे ही कोई तड़पन नही, तब साहित्य मे चमक की आशा व्यर्थ है। साहित्य यदि हृदय की वस्तु है तो मानना ही पड़ेगा कि जब तक गहरी वेदना का तूफान नही उठता तब तक हृदय-सरोवर मे भावना की लहरे नही उठती। हृदयमन्दिर मे खतरनाक घण्टी बज उठे, तो समझ लेना चाहिये कि गड़गड़ाहट के साथ आँधी की तैय्यारी हो रही है।

वर्तमान-युग, आजादी के लिए मर मिटने का युग है। इसलिये आज उच्च और तेजस्वी साहित्य की आवश्यकता प्रतीत हुई। ठीक तो है, सजल मेघो की श्याम घटा से ही लोग पानी की आशा करते है। ग्रीष्मऋतु के मध्यान्ह मे आकाशकी ओर देखकर वर्षा का अनुमान करनेवाला पागल ही समझा जायगा। जब हम किसी वस्तु की आवश्यकता समझते है तब उसकी आशा करते है और प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है एव सफल भी होते है। कहावत है कि सच्ची कोशिश कभी निष्फल नही जाती। सच तो यह है कि वस्तुस्थिति हमे प्रयत्नशील बना देती है। पुरुष और प्रकृति की तरह हमारा भी अपनी परिस्थितियो से गहरा सम्बध है। साहित्य का निर्माण हम करेगे या साहित्य स्वय निर्मित होगा, इन दो बातो में विभिन्नता रहते हुए भी तत्वत दोनो एक है। राष्ट्र की वेदना पहाड़ी झरने की तरह फूट निकलेगी। जल की धारा को कौन रोक सका है। भ्रान्तिवश हम उसे रुकी हुई समझ भी ले तो उसका रूप-दर्शन दुनिया दूसरी जगह करेगी। उसका नाश नही कर सकते।

आज उच्च साहित्य की माग है किन्तु हमें प्रथम यह समझ लेना चाहिये कि उच्च साहित्य से हमारा क्या मतलब है। भूखे को तो रोटी चाहिये और अजीर्ण के मरीज को चूरन। जिसको अपने मतलब की वस्तु मिल गई, उसके लिए वही उच्च है। प्यासे को जल मिल जाय, इससे अधिक हितकर उसके लिये और क्या होगा। उनके लिए तो वही सत्य–शिव–सुन्दरम है कि जिससे उसका जीवन–कुसुम खिल उठे। कलाकार के पास प्रतिभा है और है दिव्यदृष्टि। इधर देशकाल है और उसकी अपनी परिस्थितियाँ। दोनो का मिलन होगा और नयी–नयी चीज पैदा होगी। वही अच्छी होगी या बुरी इसकी हमे चिन्ता नही। गदगी है तो सूर्य का किरणजाल भी है, बस्ती का कूडा कर्कट है, तो नदी की बाढ भी है। साहित्य है तो समालोचक भी है। कहा जाता है कि हिन्दी में सच्चे समालोचकों का अभाव है। 'अभाव' डरने की वस्तु नही, वह तो बडी अच्छी चीज है। जिस दिन जीवन से 'अभाव' दूर होगा, उसी दिन हम अपने क्रियात्मक रूप में समाप्त हो जाएँगे। साहित्य–क्षेत्र मे यदि कोई जौहरी किसी रत्न के पहिचानने में गलती करता है–अच्छे को बुरा और बुरे को अच्छा कहता है, तो समय आने पर दुनिया की आँखो मे वह खतम भी हो सकता है। जो आँखें हिन्दी मे उच्च साहित्य नही देखती, उन्हे सच्चे समालोचक कहाँ से दिखेगे। जब उच्च साहित्य का दर्शन होगा तब उच्च समालोचक भी नजर आयेगे।

इस समय साहित्य और राजनीति मे झगडासा मच रहा है। साम्यवाद और पूजीवाद के सघर्ष का कारण तो उनके मूलसिद्धान्तो का भेद है किन्तु साहित्य और राजनीति का झगडा तो व्यर्थ ही बल पकड रहा है। इस विषय पर आज कल कई लेख भी लिखे गये है। हमारे कुछ साहित्य-सेवियो ने सन्यास ले लिया है तो क्या हर्ज है? जहाँ साहित्य–शक्ति है, वहाँ निर्माण होगा ही। वीणापाणि ी आराधना में तन्मय होना अच्छा है, तो राष्ट्र की माग पर दौड पडना भी आवश्यक है। घृणात्मक तो वह बात है कि जब हमारे बने हुए सफेद–पोश देशभक्ति के लहजे में किसी शुद्ध साहित्यिक को तुच्छ दृष्टि से देखते है। वस्तुत जो साहित्यिक है वह देश–भक्त होगा ही। एक कर्म–क्षेत्र मे कार्य करता है तो दूसरा

भावना-क्षेत्र मे; हमारे लिए दोनो पूज्य है। "जिधर पल्ला भारी हो उधर झुक जाइये" की नीति के अनुसार स्वार्थ-वश किसी राजनैतिक नेता की प्रशसा में विद्वत्ता का प्रदर्शन करना तथा प्रसाद और प्रेमचद को तुच्छ समझना हमारी निम्नतम प्रवृत्तियो का ही प्रकटीकरण माना जायगा। आज देश गुलाम है, अत हमे कुछ सिपाहियो की जरूरत है। यदि इस समय इन लोगो को कुछ अधिक इज्जत मिलती है तो हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। यह तो सत्य है कि उच्च साहित्य का निर्माण राजनीतिज्ञों के इशारो पर नही होता, वरन् उनके उज्वल बलिदानों पर होता है, जिससे साहित्यिको को स्फूर्ति मिलती है और वही स्फूर्ति साहित्य का रूप धारण करके भावी राजनीतिज्ञो को प्रेरक शक्ति बन जाती है।

स्वर्गीय प्रेमचन्दजी कहा करते थे कि जिनके कन्धो पर राष्ट्र को आगे बढ़ाने का भार था, वे अपनी भाषाओ को हेय समझ कर उसकी ओर से उदासीन हो गये और आज भी अँग्रेजी के प्रति हमारा मोह अणुमात्र भी कम नही है। तब हमारे साहित्य-सेवी प्रोत्साहन के लिए इनसे क्या आशा करे जो स्वय ठीक रास्ते पर नही है। हमारे साहित्य-निर्माता जानते है कि उनके हिस्से मे जीवन-मन्थन से निकला हुआ हलाहल है, अमृत की परवाह वे नही करते। प्रेमचन्दजी ने लिखा है कि "साहित्यकार का लक्ष देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई नही बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" सच्चे कलाकार को उच्च साहित्य के निर्माण का उपदेश देने की जरूरत नही, अन्यथा उसकी आत्मा कह उठेगी—

"मेरे ही सामने लेकर पटक देना मेरे दिल को।
मुझी से टुकडे चुनवाना मेरे टूटे हुए दिल के॥"

# साहित्यसेवा, देशभक्ति और हमारे नेतागण

साहित्य-सेवी हमेशा ससार सागर के तट पर खडा रहता है, जिससे कि वह अपने अन्तरतम प्रदेश ने इसकी सतह को साफ और ठीक तौर से देख सके। किनारे की यह तटस्थता उसे पक्षपात से बचा देती है। नेताओ के लिए यह बात नही कही जा सकती क्योकि वे दुनियाँ के पर्दे पर खडे रह कर देखने की कोशिश करते है, इसलिए बहुत सी बाते उनकी आँखो से ओझल हो जाती है। इनके पास साहित्यिको के समान अनुभूति--शील, भावुक एवं निरपेक्ष हृदय नही रहता कि जिसके बल पर वे अपने को अलग लेजाकर ऊँचा उठा सके। साहित्य-सेवी अपनी परिस्थिति से प्रभावित होकर भी अपनी निजी प्रेरणा से लिखता है, और नेताओ को जनता का रुख देख कर अपनी ढुलमुल नीति बनानी पडती है। यदि वे ऐसा न करे तो सर्वसाधारण द्वारा ठुकराये भी जा सकते है। उन्हे अपने व्यक्तित्व एव चरित्र को बहुत ऊँचा उठा कर जनता का असीम विश्वास प्राप्त करने की फिकर नही; हाँ, भोलीभाली जनता के अज्ञान से लाभ उठा कर महान बने रहने की फिक्र उन्हे अवश्य है। साहित्यसेवी की तरह एकान्त मे बैठ कर निर्भीकता से प्रखर सत्य को प्रगट करने का साहस उनमे नही है। भयानक विद्रोह को देख कर भी साहित्यिक अपनी बात पर डटा रहता है और ऐसी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर हमारे नेतागण अपना पैतरा बदल लेते है। साहित्य-सेवी की आवाज उसके अतस्थल से निकलती है और हमारे नेतागण अपनी आवाज वस्तुस्थिति का रुख देख कर बनाते है। नेताओ को

उनकी देश-सेवा का फल जनता द्वारा मिलता रहता है क्योंकि वे जनता के प्रत्यक्ष नेता है और साहित्य-सेवी को उसकी तपश्चर्या का फल अधिकतर उसके मरने के बाद ही मिलता है क्योंकि वह तो जनता का एक छिपा हुआ शुभचिन्तक है। यही कारण है कि हमारे नेतागण पूंजीवादियो के विरुद्ध जहाँ सहसा जबान नही उठा सकते, वहाँ एक साहित्यिक ज्वालामुखी की तरह फूट पडता है। धनवानो के विरुद्ध विद्रोह करनेवाला नेता शायद रँगा सियार भी हो सकता है, पर किसी साहित्यिक के प्रति यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि वह निर्द्वन्द और एकान्त साधक होता है। साहित्य-सेवी स्वार्थ की परवाह नही करता। उसका तो कार्यक्षेत्र ही अलग है। प्रेमचन्दजी के शब्द इसके प्रमाण है कि जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। हिन्दी के साहित्य-सेवियो ने साहित्य-सेवा द्वारा जो स्वार्थ-साधन किया है, हमारे नेतागण उसे बतलाने का साहस करे। हिन्दी साहित्यिको के सामने केवल एक ही ध्येय है दीपक की तरह धीरे-धीरे जलना। उन्हे धनवानो की परवाह नहीं। गरीबो और दुखियो के साथ वे सहानुभूति रखते है। न किसी से बहस करते है और न सभा सोसायइटियो ही मे भाग लेने का उन्हे शौक है। कुछ लोग उन्हे अच्छा और कुछ बुरा समझते है। उनके जीवन का लक्ष्य तो केवल जलना है। मानव-जीवन को कुचल देने वाली बुराइयाँ जिस तरह उग्र होती जायँगी, साहित्य-सेवी भी उसी गति मे उनको जलाने के लिए धधक-धधक कर जलना शुरु कर देगा। एक नेता क्षुभित होकर अपने देशके लिए प्राण दे सकता है, तो एक साहित्य-सेवी राष्ट्र पर प्राण देने वाले सैंकडो नौनिहालो की प्रेरक शक्ति बन सकता है। सफलता के बाद नेताओ को राष्ट्र में ऊँचे पद भी मिल सकते है। पर साहित्य-सेवी को? वह तो अपनी धाँय-धाँय और धधक को बन्द कर के गम्भीर और शान्त बनकर दीपक की तरह मन्द-मन्द जलने मे फिर मग्न हो जाता है। साहित्य-सेवी किसी भी राजनीतिज्ञ नेतासे कम पूजनीय नही कहा जा सकता। जो राष्ट्र अपने साहित्यिको के प्रति श्रद्धा प्रकट नही करता, वह दो में से केवल एक ही हो सकता है— या तो उसे मुर्दा समझिए और यदि वह देश जीवित होने का दावा करता है, तो उसे नीच समझना ज्यादा अच्छा रहेगा।

हमारे नेताओ की आँखो मे महात्मा गाधी की कृपा के कारण राष्ट्रभाषा– प्रेम भी महत्वपूर्ण प्रश्न वन गया है। पूना की विद्यापीठ और देहली के जामाबलिया की उपाधियो को हमारे कांग्रेसी नेता मान्यता दे सकते है, पर गुरुकुल कागडी और साहित्य सम्मेलन प्रयाग की उपाधियो की ओर उनका ख्याल नही जाता। क्यो ? नेताओ मे भारतीयता और हिन्दी प्रेम वढ गया है!! विहार सरकार ने सम्मेलन की उपाधियो का सम्मान किया है। और अन्य प्रान्त ? शायद वे सो रहे है!! साहित्य–सेवियो के कठोर आन्दोलन और तपश्चर्या के कारण जिस दिन भारत की जनता नेताओ को मजवूर कर देगी, उस दिन पाँचवे घुड़सवार मे नाम लिखाने के लिए वढ कर हमारे नेता कहने लगेंगे हमने हिन्दी के लिए यह किया और वह किया। हमारे नेताओ ने केवल एक वात सीख रक्खी है कि वर्तमान हिन्दी–साहित्य लोक–जीवन से दूर जा रहा है। मै नही समझा कि उन्हे यो कहने का अधिकार ही क्या है। हो सकता है कि उन्होने जिनका जीवन ही केवल जलने के लिए वना है, उन तपस्वियो का भी अपने को नेता समझ लिया हो। राष्ट्र के इन कर्णधारो ने कभी यह भी सोचा है कि हमने हिन्दी के साहित्य सेवियो की क्या इज्जत की है। प्रेमचद और प्रसाद देश के किस वडे नेता से कम थे ? इसके ये माने नही कि हमारे ये छिपे हुए मौन तपस्वी इज्जत के भूखे है, किन्तु इन राष्ट्र--ध्वजियो का देश के साहित्यसेवियो के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है या नही ? जो नेता अपने साहित्यिको के प्रति श्रद्धाभाव नही रखता, वह सच्चे अर्थो में देश का नेता वन ही नही सकता। वह तो राष्ट्र को सकट में और डाल देगा। हिन्दी के एक तेजस्वी पत्र 'कर्मवीर' ने लिखा है--"कांग्रेस का संकट सुभाष और उसकी शक्ति नही है, मिनिस्टरियो के पापो द्वारा उत्पन्न कांग्रेसी शक्तियो का अध पात और उनकी शक्तिहीनता है।" ये शब्द चिल्ला रहे है कि हमारे नेताओ मे स्वार्थ अधिक और त्याग एवं सेवा भाव कम हो रहा है; अन्यथा महात्मा गाधी कांग्रेस की अशुद्धि और अपवित्रता का रोना वार–वार क्यो रोते। वैसे अपवाद तो सभी जगह होते हैं।

साहित्यिकों और नेताओ की रस्सा खेंच जिस भद्दे और छिपे ढग से हमारे यहाँ चल रही है, वैसी शायद ही कही हो। यह वतलाने की

जरूरत नही है कि जब कोई शुद्ध साहित्य सेवी कभी नेताओ के जमघट मे दुर्भाग्य से जा फँसता है, तो वे लोग उसको इस तरह देखने लगते है, जैसे बच्चे कुतूहलवश कोई नयी दुनिया की चीज ममझ आँख फाड कर चमगीदड को देखते है। अब जरा नौकरी पेशे वालो की दुनिया देखिए। एक प्रोफेसर अपने किसी मित्र से हिन्दी के एक प्रथम श्रेणी के कहानी लेखक का परिचय कराता है। मित्र महाशय बडी अदा और आश्चर्य के साथ कहते है ओह! आप लेखक है! बस, इसके आगे पूर्ण विराम। हो सकता है कि हमारे लेखक महोदय ने दिल मे अपने को भाग्यशाली समझा हो। लेकिन मुझे विश्वास है कि यदि उसका परिचय प्रोफेसर, बैरिस्टर, मिनिस्टर, कलेक्टर या डाक्टर कह कर दिया जाता तो परिचय प्राप्त करनेवाले नेता महाशय की आँखें सजग और चञ्चल हो उठती, साथ ही उठ कर वे हाथ मिलाने के लिए भी लालायित हो जाते। पर हिन्दी के लेखक की कीमत ही क्या! उससे गुलाम दुनिया का क्या स्वार्थ?

हिंदी-साहित्य-परिषद् प्रयाग के जन्म समय पर पठित पडित भगवतीप्रसादजी वाजपेयी के भाषण से मै कुछ शब्द यहाँ उद्धृत करूगा। आप देखेंगे कि उनसे मेरी विचार-धारा की पुष्टि कहा तक होती है

"राष्ट्रवाणी की समस्त गौरव-गरिमा आज हिन्दी-साहित्यकार से यह आशा करती है कि उसकी आरती का थाल ऐसे ज्योतिर्मय दीपको से पूर्ण हो, जो प्रकाश के आत्मदान में सर्वथा निस्पृह हो और जीवन-यापन की साधन हीनता, अभावजन्य विवशताएँ जिसके प्रगतिशील पथ के आगे मूर्तिमान व्याघात बनकर कार्यक्षेत्र मे अन्धकार की कालिमा न फैला सके। राष्ट्रवाणी की इस आशा का भार जिनके कन्धो पर है, वे हमारे शासन-विधायक आज इस दिशा में मौन है। साहित्य की आत्मा का प्रकाश आज इनके दिग्भ्रम और पथश्रम के कारण साहित्यकारो की विवशताओ के आगे रुदन की सिसकियाँ भर रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज हिन्दी के अधिकाश साहित्यकार क्षण-क्षण पर यह अनुभव करते है कि हम अवहेलित है, उपेक्षित है।

आप जानते है कि साहित्यकार चाकरी नही करता अपने विश्वासो का क्रय सरे बाजार करना उसने सीखा नही। जीविका के बन्धन उसे सहय

नही। किसी के आगे हाथ पसारना तो उसके लिए मृत्यु है। ऐसी परिस्थिति मे हिन्दी-साहित्यकार के जीवन से आज जो चाहते है, उसका मिलना यदि सभव न हो, तो हिन्दी और साहित्य के नाम पर चलनेवाली सस्थाएँ फिर है किस मर्ज की दवा ? जनता का हृदय और उसका हार्दिक स्वागत भी जो साहित्यकार के लिए पाथेय है, प्राण-पूरक है, क्या उसको न मिलना चाहिए?

जब साधारण जन-समाज खर्राटे की नीद मे नितान्त विभोर रहता है, साहित्यकार तब भी सो नही पाता। भावनाओ के द्वन्द्व उसकी कल्पना की कलियो पर आ-आकर मँडराने लगते है। रात की रात उसे सोचते, करवटे बदलते बीतती है। व्यक्तिगत मोह, निजी आहार-विहार का ससार और वर्तमान तथा भविष्य के जीवन का विकास और उसके व्याघात साहित्यकार के मनोराज्य के द्वार पर हाथ बाँधे खडे रहते है। क्यो ? क्योकि केवल वह अपने आपको न देख कर समस्त विश्व को देखता है।"

वीणा के प्रधान सम्पादक लिखते है—"आज राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले छोटे से छोटे लोग भी न जाने अपने को किस आसमान का जन्तु समझने लगे है साहित्य की वर्तमान प्रगति से उनका परिचय नही, फिर भी साहित्य पर अपना अगाध अधिकार प्रदर्शित करते है और राजनीतिक नेता होने के कारण वे साहित्यकारो के सिर पर सवार होने की भावना भी रखते है।"

डॉ. सत्यप्रकाश डी एस सी लिखते है—"क्या आप किसी भी ऐसे कलाकार का नाम बता सकते है जोकि साहित्यपर ही अपना निर्वाह करता हो और जिसे खाने के लिये दो समय रोटी और पहिनने के लिये कपडे सुगमता से मिल जाते हो। महावीरप्रसाद द्विवेदी को सम्पादकी करनी पडी, अयोध्यासिह उपाध्याय को अध्यापक बनना पडा।" (वीणा, मार्च ४३) चालीस करोड़ जनता की राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा करनेवाले को कुछ न कुछ बनना ही पडा। गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' को ज्योतिषी और चतुरसेन शास्त्री को वैद्य। वे अपना पूर्ण समय साहित्य सेवामें न लगा सके। बगाली, मराठी और गुजराती से हिन्दी को हीन कहनेवाले कृष्णमन्दिर सम्प्रदाय के सर्टिफाइड नेता पहिले अन्तर्मुखी होकर सोचते कि उन्होने हिन्दी के लिये किया क्या है। साहित्यिको का खप्पर दया

की भीख नहीं चाहता किन्तु उनकी कलम की नोक यह जरुर चाहती है कि उसकी स्याही सूखने के पहिले ही ये अपना आत्मनिरीक्षण कर लेते।

"साहित्यिक के लिखने की स्याही देशपर आत्मोत्सर्ग करनेवाले शहीदों के खून से अधिक पवित्र है।" इस कथन में यदि सचाई है तो अवश्य ही यह साहित्यिको के महत्व को बहुत ऊचा उठा देती है। इसमे सन्देह नही की कोई भी व्यक्ति तब तक देशभक्त कहलाने का अधिकारी नही है जब तक वह अपने देश के साहित्य से अच्छी तरह परिचित न हो। जब कभी हम किसीको राष्ट्र की वेदीपर प्राण चढाते देखते है तब उन्हे वीर सैनिक कह सकते है, देशभक्त नेता नही। तथापि यह मानना पडेगा कि शहीद होनेवालो पर भी किसी न किसी अप्रत्यक्ष रूप से ही क्यो न हो, देश के साहित्य का प्रभाव अवश्य पडा है। बीसवी सदी के सर्वश्रेष्ठ हिंदी उपन्यासकार श्री. 'प्रेमचन्दजी' ने कहा था कि हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हमारे अधिकतर नेताओं को शुद्ध हिंदी बोलना भी नही आता। कथन की सत्यता मे शका करनेवालो को चाहिये कि भूपटलपर ऐसे किसी देश का नमूना पेश करे जहा के नेता अपने देश की भाषा न जानते हो।

आज किसी भी जिज्ञासु के हृदय मे इस तरह के प्रश्न उठ सकते है कि दिल के दीपक मे अपने खून का तेल डालकर आसुओ से लिखनेवाले साहित्यिक क्या देशभक्त नही हो सकते? भारतीय तरुणाई के मस्तिष्क के बनानेवाले और राष्ट्रनिर्माताओ के भाग्यविधाता अध्यापक क्या देशभक्त नहीं कहला सकते? देश की आजादी के लिये शुद्ध हृदय से फासी के तख्तेपर लटक जानेवालो को देशभक्त कहना क्या पाप है? क्या देशभक्ति खादी पहनना, व्याख्यान देना और जेल के सीकचो तक ही सीमित है? भारतीय गौरव की रक्षा करने के लिये सहस्रो आर्य ललनाओं की भस्म से खेलने वाला चित्तौडगढ क्या किसी देशभक्त से कम महत्व रखता है? कुरुक्षेत्र, पानीपत और हल्दीघाटी के रक्त रंजित मैदान क्या किसीभी देशभक्त से कम श्रद्धा के पात्र है? नही, तो फिर यह विषमता क्यो?

आज सभी देखते है कि एक साधारण कार्यकर्ता की बाते बहुत सुंदर ढग से प्रकाशित होती है। उनकी छोटी छोटी मुसीबतो से देश शोकाकुल हो उठता है। मरने के बाद उनके स्मृतिदिन मनाये जाते है और साथही

स्मारक भी बनाये जाते है । वास्तव मे ऐसा ही होना भी चाहिये । लेकिन क्या 'प्रेमचन्द' और 'प्रसाद' की सेना दुकाने और मसौदे उठाने की सामग्री है कि जिसका अध्ययन करके भावी पीढी साहित्यिक तथा राजनीतिज्ञ और देशभक्त बनती रहेगी ? कौन इसका उत्तर देगा कि इन महान साहित्यिक आत्माओ की देश ने क्या कदर की ? श्री. रवीन्द्रनाथ, वसुमहोदय और जायसवाल जी का अवश्य कुछ सम्मान हुआ, किन्तु इसलिये कि उन्होने हिन्दी मे लिखने का पापपूर्ण कार्य नही किया ! ! श्री सियारामशरणजी गुप्त ने प्रायवेट साहित्यिक चर्चा करते हुए एक बार कहा था कि रवीन्द्र ने, नोबल पुरस्कार लेकर लौटने पर, अपने भाषण मे कहा-- "ऐ पूर्ववालो ! मैने सरस्वती की आराधना की थी । पश्चिम ने मेरा सम्मान किया अब तुम भी कर लो ।" कौन जान सकता है विश्वकवि की अन्तरतम वेदना को ?

देश, हिंदी साहित्य मे तेजस्विता लाना चाहता है, लेकिन कहा से ? क्या राजनीतिज्ञो के व्याख्यानो मे ? या अपनी रोटी के लिये तडपनेवाले साहित्यिको के द्वारा ? एक साधारण सैनिक के देहान्त होने पर, देश हडताल करके कुहराम मचाता है पर इन सैनिको के सेनापतियो के मस्तिष्क में देशप्रेम का बीज बोनेवाले अपने साहित्यिको के सबध मे उनकी मृत्यु पर देश ने क्या किया ? जहा एक स्वतत्र राष्ट्र अपने साहित्यिको के लिये अपना साम्राज्य निछावर करने को तैयार है वहा एक गुलाम देश अपने साहित्यिको की कीमत मुठ्ठी भर चावलो से करना चाहता है । ये सब ऐसे प्रश्न है जो किसी भी युवक के हृदय मे अशान्ति का तूफान मचाये विना नही रह सकते ।

साहित्यिक देश के अतीत गौरव की रक्षा करके भविष्य के मार्ग को साफसुथरा करते चलता है जिससे देशभक्तो के कार्य मे बहुत कुछ सुविधा हो जाय । अब इन बातो के दुहराने की जरूरत नही कि देश साहित्य और राजनीति की विभेदक रेखाको अधिक चौडी न बनाये । साहित्य का वृक्ष यदि साहित्य-मालियो द्वारा समय-समय पर उनके दिमाग के जल से न सींचा जाता तो राजनीति और देशभक्ति की डालिया न जाने कब की मुरझा जाती । अत देश का अपने साहित्यिको की अवहेलना करना कभी हितकर न हो सकेगा ।

## हिन्दीसंसार की कुछ कठिनाइयाँ और हिन्दी का लेखक

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओंकी अन्तरंग परिस्थितिसे परिचय रखनेवाले व्यक्तियोंसे यह बात छिपी नही है कि प्राय अधिकांश पत्रोंकी स्थिति शोचनीय है। मराठी, गुजराती और बंगालीके चुनिंदे पत्रो के मुकाबिलेमे हिन्दी अखबार बहुत पीछे है जब कि देशमें हिन्दी भाषा–भाषी अधिक संख्यक है और हिन्दीको राष्ट्रभाषा होनेका सौभाग्य प्राप्त है तथा कांग्रेसका सहयोग है। ऐसी स्थितिमें तो हिन्दीके अखबार भारतीय अन्य भाषाओंके 'पत्रो' की अपेक्षा ऊँचे दर्जेके, सुन्दर और सस्ते होने चाहिये थे किन्तु वास्तवमे बात उलटी देखनेमे आ रही है। विद्वानोंने इस वस्तुस्थितिपर सोचा है और अपने विचार भी प्रगट किये है लेकिन अभीतक इसका कोई ऐसा 'हल' न ढूंढा जा सका कि जिसको सामने रखकर हम आगे बढे।

कुछ लोग सोचते है कि हिन्दी में "मुफ्त पढनेवाले" अधिक है। किसी एक आदमी के यहा कोई 'पत्र' आता है तो पढनेवाले दस पाँच प्रेमी वही पहुँच जाते है और कुछ पाठक वाचनालयमे जाकर अपना शौक पूरा करलेते है। 'शौक' इसलिये कहता हूँ कि उन्हें 'भूख' नही रहती। खैर, इस तरह के कई कारण बताये जाते है कि जिससे हिन्दी–पत्रोंकी बिक्रीमें बाधा पडती है। लेकिन ये बाते अन्य भाषी 'पत्रो' के सम्बन्धमें भी तो कही जा सकती है। सच बात तो यह है कि हम लोगोमें पढनेकी रुचि नही है। हिन्दी अखबारोंका कर्त्तव्य है कि अपने पाठकोमें साहित्यिक

रुचि पैदा करे। हिन्दीका दुर्भाग्य है कि बंगालियों, गुजरातियों और महाराष्ट्रियनोंकी तरह हममे 'हिन्दी' की वह 'स्पिरिट' नहीं है जिसके कारण सर्वसाधारण जनतामे भाषा और साहित्यके प्रति रुचि पैदा की जाती है। यह बात कटु होनेपर भी सत्य है। काशीमे अठ्ठाइसवे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसरपर अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार परिषदके सभापति की हैसियतसे प्रखर राष्ट्रीयतामे झुलसा हुआ प. माखनलालजी चतुर्वेदी का हृदय चिल्ला उठा 'मुझे तो इस बात का दुख है कि माननीय प रविशंकर शुक्ल, माननीय प गोविन्दवल्लभ पंत और माननीय प श्रीकृष्णसिंह और उनके मित्रोंने शायद ही कभी मिलकर सोचा हो कि इन तीनो शासनोंकी संयुक्त शक्तिको समस्त हिन्दी संसारके महान् जागरण और संघटनका काम करना है।'

अखबारोंके एजंट अपना अनुभव बताते है कि कुछ लोग तो किसी व्यक्तित्वके प्रभावसे ग्राहक बनजाते हैं तो कुछ लोग 'पत्र' के वार्षिक मूल्यको 'धर्मदिखाते' माडकर संतोष करलेते है। कपडे के कुछ दूकानदार ताजा अखबारो को रद्दीकी तरह कपडा बाँधनेमे उपयोग करते है- तो कुछ रईस लोग महज नामके लिये दो चार अखबार मगालेते है जो उनके टेबलकी शोभा बढाते हैं। यह हालत करुणा-जनक है किन्तु क्यों है, इसपर सोचना है। इस तरह हिन्दी-पत्र पत्रिकाओंकी स्थिति नहीं सुधर सकती। अपनी कठिनाइयोंको 'हल' करने के लिये हिन्दी भाषा-भाषियोंकी मनोवृत्ति बदलनी होगी। किन्तु यहा तो हम लोगोंमें आपसमे प्रेम नहीं और एक दूसरेकी इज्जत करना नहीं जानते। अपनी बात को स्पष्ट करनेके लिये थोडे विषयान्तरकी जरूरत है। प्रयागकी चौडी सडकपर अपने एक साहित्यिक मित्रके साथ इक्केमे बैठकर घूम रहा था। टक्-ट्क-ट्क करते हुये जब इक्का आगे निकल गया तब मेरे मित्रने कहा-'आपने शान्तिप्रियजीको देखा ?' 'कौन, शान्तिप्रिय द्विवेदी' मैंने प्रश्न सूचक उत्सुकताके साथ पूछा। 'हा' मेरे मित्रका उत्तर मिला। मैंने देखा- कमीजपर अस्त व्यस्त कोट, और पायजामेमे लिपटा हुआ एक 'मानव' एक बूढेकी तरह लकडी टेककर खडा है। जिसकी दुबली पतली गर्दन उसके स्वास्थ्य का पता दे रही थी। साहित्यकी साधनामें धीरे-धीरे तपनेका पेशा करने वाला श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी था। यदि हिंदी भाषा भाषियोमे अपने साहित्य और साहित्यिकोंके

प्रति कुछ सम्मान होता तो मै अपने साहित्यिक भाईके दर्शन कुछ दूसरे रूपमें करता। श्री शान्तिप्रियजी द्विवदीके निम्नाकित शब्दोको पढकर हम हंसे या रोये ?

'एक अमीर लेखक यदि पानकी पीक थूक देगा, तो उसमे भी लोग साहित्यिक छटा देखेंगे और एक गरीब लेखक कागज पर अपने रक्त की बूंदे उतार देगा, तो भी बडे-बडे पारदर्शियोकी आँखोमे रतौंधी छाई रहेगी।' हम लोगो की अतरग हालत पर क्या इन शब्दो की 'बॅट्री' कोई 'लाइट' नही फेंकती ? हिन्दी भाषाभाषियो की मनोवृत्ति सुधारने का कार्य हम क्या और कैसे करेगे ? हमारे सामने यह एक कठिनाई है। प्रथम तो हमे खुदको सुधारना चाहिये।

कई बार देखनेमे आता है कि हिंदी भाषा-भाषी 'टाइम्स' लिये घूमेगें चाहे उन्हे अँग्रेजी पढना भी बराबर न आता हो या और किसी दूसरी भाषा का 'पत्र' पर 'हिन्दी-पत्रों' को वे पढने योग्य नही समझते। मैने बहुतसे स्थानो मे यह भी देखा है कि नाम तो 'हिन्दी वाचनालय' और वहा हिन्दीकी अपेक्षा अन्य भाषा के पत्र ही अधिक आते है। यदि हम जरा कुछ आलोचना करते है तो 'साम्प्रदायिकता' के भागीदार बन जाते है। इस तरह का झूठा आदर्शवाद और कुछ लोगोकी विचित्र विचारधारा हिन्दी और उसके साहित्यिको के प्रति 'सर्व साधारण' का सद्भाव निर्बाध नही रहने देती। श्री काकासाहेब कालेलकरने एकबार लिखा था--

'अपनी रचनाओंद्वारा हिन्दीको अलकृत करने वाले लोग साहित्य के जन्मदाता नही गिने जा सकते'। श्रद्धेय काकासाहेब की दृष्टिमे आगामी युग 'सेवक साहित्यिकों' का अर्थात् भाषा प्रचारको का है। इस कथनपर हिन्दी ससार मे काफी हो हल्ला मचा किन्तु श्री चद्रगुप्त विद्यालकारने पतेकी बात कह दी- 'न जाने कहांके उलटे सीधे आदर्श, यह अजीब और हास्यास्पद आदर्शवाद हम हिन्दीवालो को जबरदस्ती सुनाया जाता है और आशा की जाती है कि हम आदर के साथ उसे सुनेगे। इस तरहं के वातावरणमे साहित्यिको के प्रति साधारण जनता का उदासीन भाव कोई अचरज नही है।

कुछ महिनो तक 'विशाल भारत' मासिक-पत्रमें साहित्यिको की दयनीय दशा, उनका सुधार तया तत्सम्बधी योजनाओंकी चर्चा चलती रही किन्तु वस्तुस्थिति मे तबतक असली सुधार न होगा कि जब तक परस्पर सद्भाव और जनरुचि बदलने का प्रयत्न न किया जाय। वर्तमान में हमारे यहाँ जिस तरह हिन्दी-हिंदुस्थानीका झगडा चल रहा है यदि इसी तरह बंगला या मराठी मे चलता तो हिन्दी ससार देखता कि उस भाषा के साहित्यिक किस 'स्पिरिट' का परिचय देते, पर यहाँ तो डॉ धीरेन्द्रवर्मा, श्री. चद्रवली पाण्डेय तथा श्री व्यकटेशनारायणजी तिवारी को छोडकर प्राय मौन साधन ही करते रहे है। यहाँ कहने का अभिप्राय सिर्फ यही है कि जो लगन और कट्टरता बगला और मराठीमें देखने को मिलती है, उसके दर्शन अभी हिन्दीमे देखने को नही मिलते। हम लोग तो आदर्शवाद के नीचे अपनी कमजोरियो को छिपाने का ढोंग करते है। हिन्दी भाषा, साहित्य और उसके लेखको की प्रगति मे जो कठिनाइयाँ है उनपर अब हमे विचार करना चाहिये।

कोई लेखक जब लिखने बैठता है, तब क्या, क्यो और किसके लिये लिखा जाय, ये प्रश्न सहज ही दिलमें उठ जाते है। साहित्यका समन्वय-शील लेखक भी युगधर्मकी विशेषताओसे बच नही सकता। प्रेमचद और मैथिलीशरणजीके समान आदर्शवादी लेखकोने भी पूजीवादके प्रति घृणा प्रगट की है। इस भयानक युगमे, जब कि मानवता कराह रही हो, श्री. मोहनलालजी महतोका निम्नांकित प्रश्न पूछना स्वाभाविक ही है।

"क्या हम यह भूल गये कि उच्चवर्ग हमें अपने मनोरजनका खिलौना समझते है? उन्हे साहित्यसे कोई मतलब नही और न उन्हें हमारी लिखी वजनदार चीजोसे ही कोई वास्ता है। वे अपने धन, अपने व्यसन, अपने व्यभिचार, अपनी मोटार, अपने मित्र, अपनी शानदार कोठी, अपनी लूट-मार, अपनी निर्दयता, अपने ओछेपन और अपने खुशामदी कमीने दरबारियोंसे मतलब रखते है। मै पूछता हू, फिर आप किस उम्मीदमें अनार समझकर सेमर वृक्षकी सेवा कर रहे है? आपकी इस मूर्खताका कभी अन्त भी होगा या यह आपकी 'अनन्त साधना' का ही एक अग है?" इसमे कोई सन्देह नही कि 'वियोगी' जीकी आत्माने

गहरी चोट खाई होगी और तड़पकर उनके अन्तसके भीतरी कोनेसे ये शब्द निकले होंगे ? कितने दर्दीले हैं ये शब्द ? कुछ दिन पूर्व पं. वनारसीदासजी चतुर्वेदीने 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का प्रश्न उठाकर हिन्दीमे एक प्रश्न उपस्थित कर दिया था। अब वह दिनो-दिन नये रूपमे निखर रहा है। धीरे-धीरे हम देख रहे है कि 'प्रगतिशीलता' पर आजकल खूव लिखा जा रहा है। प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त एम० ए० लिखते है -

'आज कलाकारको अपने विचार सुलझाने ही होगे। क्या वह धनकुवेरों और पूजीवादकी ओर अपनी शक्तियोका प्रयोग करेगा अथवा भूखे नगे जनसमाजकी ओर ? वह मौन धारण कर अपना उभडा गीत कठमे ही सुला देगा ? हमारे देखते ही देखते प्रलयके वादल समीप आ रहे हैं। हम चुप कवतक रह सकते है ?' यह है एक नवयुवक साहित्यिककी आवाज। अब यह वतानेकी जरूरत नही रही कि हिन्दीके युवक लेखकोकी विचारधारा किस ओर है। एक वहुत पुरानी वात है। जोधपुर नरेशके सामने सरदार देवीसिंह ने कहा था -

"पृथ्वीनाथ मै जो रूठ जाऊँ" कहा वीरने<br>"जोधपुरकी तो वात ही क्या ? वह तो<br>रहता है मेरी कटारी की पर्तली में ही,<br>मै तो नवकोटि मारवाडको उलट दू"-<br>कहते हुये यो ढाल सामने जो रखी थी<br>वाये हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी

हो सकता है कि सरदार देवीसिंहके ये वाक्य आवश्यकतासे अधिक अभिमानपूर्ण हो लेकिन इसमे सन्देह करना गलत होगा कि वर्तमान लेखकोंके साथ यदि मदान्ध पूजीवादियोका वर्ताव ठीक न रहा तो उनके अन्तरकी ज्वाला भडककर देशमे धांय-धांय शुरू कर देगी जो व्यक्ति तक ही सीमित न रहेगी वरन कई समूह उसमें भस्मसात् हो जायँगे। आजकल भीतर ही भीतर जो लोकमत वन रहा है वह अत्यन्त ही खतरनाक है। यह भावना दृढ होती जा रही है कि पूजीवाद साम्राज्यवादका छोटा भाई

है और प्रजातंत्रका दुश्मन है; क्योंकि जनता समझने लगी है कि पूंजीवादी देशों में आर्थिक समानता न रहनेके कारण प्रजातंत्रका अधिक महत्व नहीं हो सकता। अपने शुद्ध अर्थोंमे साहित्य किसी युग--विशेपकी विचारधारासे प्रभावित नहीं होता, पर पीडित जनताकी पुकार चाहे सरकारके न्यायालयोंमे न पहुँचे, किन्तु साहित्यके साधकोंके दरवारमे तो पहुँचे विना नहीं रह सकती। लेखकका स्थान किसी सम्राट से कम नहीं है, किन्तु हिन्दीका लेखक देशके दुर्भाग्यसे बेकार और दुखियाका जीवन विताता है जिसकी समाजने कोई इज्जत नहीं, शायद मरनेके बाद होती रहे। हमारे महान कलाकार प्रेमचन्दकी देशने जो इज्जत की वह किसीसे छिपी नहीं है। देशकी वडी-से-वडी संस्था भी लेखकों द्वारा वदले हुए जनमतको नहीं सँभाल सकती, वरन् किसी भी वडी शक्तिको लोकमतके मुताबिक ही झुकना पडेगा। यह खुला हुआ सत्य है कि किसी भी देशका जनमत लेखकों की कलमके इशारे पर झूला करता है। अपनी धुनमे लगे हुए राष्ट्रके पूंजीवादी चाहे इसकी परवाह न करे, पर इसे कौन भूल सकेगा कि ज्वालामुखीका मुह कबतक बन्द रहा है।

# लेखक, सम्पादक और हिन्दी की उपेक्षा

लेखक का अर्थ है लिखने वाला निर्माण करने वाला। लेखक के पास अपनी अनुभूति होती है जिसकी व्यंजना वह अपने ढंग से करता है। उसका अपना तरीका होता है निजी शैली होती है। जगत को वह अपने दृष्टिकोण से देखता है। प्रतिभाशाली लेखक किसी के आदर्श को आधार बनाकर नहीं चलता। उसकी प्रतिभा उसे नकल की तरफ नहीं, मौलिकता की ओर खींचती है। यही कारण है कि दो सच्चे लेखकों का एक ही बात को देखने का ढंग भिन्न और उसे प्रगट करने का तरीका निराला होता है।

सम्पादक के माने है सम्पादन करने वाला। यद्यपि सम्पादन का अर्थ किसी वस्तु के प्राप्त करने तक ही सीमित है, तथापि साहित्य संसार ने उसे काट-छांट करने के अधिकार भी दे रक्खे है या यों कहिये कि उसने ये अधिकार प्राप्त कर लिये है। इस तरह सम्पादक का अर्थ हुआ-प्राप्त की हुई वस्तु को काट-छांट कर सिलसिलेवार स्थापित करनेवाला। सम्पादक लेखक का कर्म करता है किन्तु उसकी कला उसके सम्पादक कार्य ही में देखी जायगी, न कि लेखन कार्य में।

लेखक और सम्पादक के कार्यक्षेत्रो की भिन्नता जान लेने पर उनकी कर्तव्यनिष्ठा का विचार करना भी असमीचीन न होगा। लेखक अपने विषय पर अपने ढंग से कुछ लिखकर सम्पादक के पास भेज देता है और समझ लेता है कि अपना कार्य पूर्ण हुआ। वस्तुत. यह ठीक भी है, किन्तु

सम्पादक का कर्तव्य कठोर है। उसे आये हुए लेखो को पढना पडता है और अप्रकाशित लेखो को लौटाने की व्यवस्था करनी पडती है। यह भी ध्यान रखना पडता है कि बिना पारिश्रमिक लिये लेख भेजने वाले स्थायी लेखको के पास 'पत्र' बराबर जाता है या नही। क्योकि एक लेख की कीमत 'पत्र' के वार्षिक चन्दे की रकम से किसी भी हालत मे कम नही होती। खेद है कि हिन्दी-ससार मे ऐसे आदर्श सम्पादक नही के बराबर है।

लेखक और सम्पादक का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। एक का काम दूसरे के बिना नही चल सकता। सम्पादक के अभाव मे लेखक अपने विचारो को पुस्तक रूप में प्रकाशित करके 'लेखक' कहला सकता है, लेकिन सम्पादक अपने पत्र का कलेवर स्वयं भरने लगे तो वह अपने नाम को सार्थक नही कर सकता। क्योकि अपनी वस्तु का सम्पादन ही क्या। हाँ, नये लेखको के लेख में कुछ सशोधन कर दे, यह दूसरी बात है। लेखक भी यदि अपने विचारो को तूफानी गति से फैलाना चाहे, तो उसे सम्पादक की आवश्यकता होगी।

लेखक अपने विचारो को प्रगट करने मे बहुत उत्सुक रहता है और अपना लेख प्रकाशित देखकर खुशी का अनुभव करता है। यह स्वाभाविक है और बुरा भी नही कहा जा सकता, किन्तु लेखक को अपने आत्मसम्मान एव गौरव का सदैव ध्यान रखना चाहिए। लेखक का पद महान है। जो निर्भीक नही, वह चाहे तो भाग्य से सम्राट बन सकता है, पर लेखक नही बन सकता। किसी प्रोपेगेण्डा या पार्टी मे शामिल होनेवाला लेखक अपना पतन कर लेता है, क्योकि वह सत्य के प्रखर तेज का सामना नही कर सकता—एकागी बन जाता है, उसके विचार संकुचित हो जाते है और वह विश्व कल्याण की बात नही कह सकता। हो सकता है कि वह कुछ समय के लिए महान बना रहे किन्तु वह महानता अपने में स्थायित्व नही रखती। उस स्थिति में वह 'प्रोपेगेण्डिस्ट' कहला सकता है। लेखक कहलाने का उसे कोई अधिकार नही। जिसने टुकडो के लिये अपनी आत्मा बेच दी हो, या अपने स्वार्थ के लिए स्पष्टता से सत्य बात कहने मे हिचकता हो, ऐसा आदमी 'लेखक' नाम को कलकित करता है। उसे इस धन्धे से दूर

रहना चाहिए। लेखक का पतन किसी भी राष्ट्र के लिये भयानक हो सकता है। लेखक की आवाज आत्मा से निकली हुई होनी चाहिए। सम्पादक के लिए तो यह और भी विचारणीय है।

हिन्दी में ऐसे सम्पादकों की कमी नहीं जिनका व्यक्तित्व विक चुका है जिनका जीवन पूँजीवादियों की इच्छाओं पर टिका हुआ है। ऐसे सम्पादक राष्ट्रसेवा के पर्दे की ओट में अपने प्रभुओं की नीति की आँख मीच कर प्रशंसा करते हैं और समझते हैं कि यही सम्पादन कला है। ऐसे सम्पादक समझते हैं कि बिना किसी नीति का अनुसरण किये काम चल ही नहीं सकता। ये लोग यहाँ तक सफेद झूठ कह देते हैं कि हिन्दी में कोई ऐसा पत्र नहीं जो किसी खास नीति का प्रचारक न हो। ऊपर से ये शब्द बड़े अच्छे और ठीक दिखाई देते हैं; पर हमारा आक्षेप उस भद्दे दृष्टिकोण पर है जहाँ सम्पादक अपना पतनकर लेता है। पक्षपात के धरातल से जो दूर रहता है वही श्रेष्ठ सम्पादक कहलासकेगा। पिट्ठू नीतिवाला सम्पादक खास नीति का प्रचार करता है। यदि दुर्भाग्य से वह नीति गलत हुई, तो वह राष्ट्र को प्रशान्त महासागर की गहराई में लेजाकर रख देगी। दोनों पक्षों को सामने रखने से लोगों को सोचने का मौका मिलता है और वे 'भेडियाधसान' के अनुगामी बनने से बचे रहते हैं। अन्धानुयायी नहीं बनते। एक पक्ष को सामने रख कर दूसरे पक्ष को छिपाना जनता को धोका देना है—अन्धकार में रखना है। सम्पादक को हमेशा निष्पक्ष रहना चाहिए।

हिन्दी में कुछ ऐसे भी सम्पादक हैं, जो अपने विषय का कुछ भी ज्ञान नहीं रखते। इतने पर भी गनीमत समझी जाती यदि वे सर्वज्ञ होने का मिथ्या आडम्बर न फैलाते। जब सम्पादकों के पास भिन्न-भिन्न विषयों पर अधिकार पूर्ण लेख आते हैं, तब वे सुचारुरूप से उनका सम्पादन नहीं कर सकते। ऐसे सम्पादक बहुत कम हैं, जो सभी विषयों में गम्य रखते हैं। ऐसी स्थिति में सपादक लेखकों के साथ न्याय नहीं कर सकता। भूगोल, विज्ञान और साहित्य-सदेश सरीखे मासिक-पत्र इसलिये अच्छे निकले कि उनके सम्पादक अपने खास विषयों के सच्चे अर्थों में 'मास्टर' हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाओं को देखिए तो स्पष्ट दिखाई देगा कि अधिकतर

सम्पादक अपने निजी विषय का सम्पादन तो कुछ अच्छा करते हैं और दूसरे विषयो मे बेगार-सी काटती है। कितने हैं ऐसे 'पत्र' जहाँ भिन्नभिन्न विषयो के लिए अलग-अलग सम्पादक हो।

सम्पादक का पद साधारण नही है। जो अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता हो, कटु सत्य को निर्भीकता से प्रगट करता हो, पक्षपात जिसे स्पर्श न करे, प्रलोभन का जिसपर असर न हो, प्रतिभा की जो इज्जत करता हो और विशाल हृदय हो वही आदर्श सम्पादक मानव-जाति का कल्याण कर सकता है। वैसे काम चलाना दूसरी बात है।

कभी-कभी सम्पादक लोग अपने उत्तरदायित्व को भूल जाते है। सन १९३१ की एक घटना है। झाँसी के पास एक भाग्यहीन-दूल्हा रेल से कटकर मर गया। बरात के लोग टूटे हृदय से आँखो मे आँसू भर कर शव के साथ लौट गये। कितना करुणा-जनक होगा वह दृश्य, पर नागपुर के दैनिक 'नव भारत' मे इस घटना का शीर्षक यो छपता है- "रग मे भग" "दूल्हाराम ट्रेन से कुचल गये" यह है हमारी सम्पादन कला। कोई रोता है, किसी को मजाक सूझती है। शब्द-ध्वनि की ओर कौन ध्यान दे। यदि किसी सभा में दो सौ आदमी इकट्ठे हुए हो, तो हमारे पत्रकार लिखते है- "दोहजार की भीड मे प्रभावशाली भाषण हुआ।" जहाँ दो दो शराब की बोतले फुड़वायी गई हो, वहाँ लिखा जाता है- "बडे बडे पियक्कडो ने भावावेश मे आकर अपनी बोतले फोडदी।" सम्पादको ने केवल इसी को सम्पादन-कला समझ लिया हो, तो हमे कुछ नही कहना है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। अत हिन्दी के लेखक और सम्पादक इस ढग से कार्य करे कि 'हिन्दी' माता का मस्तक नीचा न होने पावे।

हमारे देश मे ऐसे ट्रेडमार्क ग्रेज्युएटो की कमी नही जो कहते हैं कि अंग्रेजी भाषा बहुत अच्छी है, उसका साहित्य बहुत ऊँचा है और वह यूरोप की भाषा बन गई है। जब मुट्ठी भर अँग्रेज अपने साधनो के बल पर अंग्रेजी भाषा और साहित्य का इतना महत्व बढा रहे है तो चालीस करोड़ भारतवासियो को कौन मना कर रहा है कि आप अपनी राष्ट्रभाषा का

प्रचार न करें और उसे ससार की भाषा न बनावे। शायद इन लोगो ने समझ रक्खा है कि विदेश वाले हिन्दी साहित्य का निर्माण करेंगे !!

कुछ वकील लोग मुझसे कहा करते है कि पं. जवाहरलाल ने अंग्रेजी पढी इसलिये वे इतनी देशसेवा कर सके। जवाहरलालजी पर स्वतत्र देश के शिक्षको का हाथ टिका है; गुलाम देश के शिक्षको का नही। हमारे बहुत से नेताओ ने विदेश जाकर जब देखा होगा कि स्वतत्र देश के लोगों में अपनी देश भाषा के प्रति कितना प्रेम है, तब उनकी आखे खुल गई होगी। अग्रेज प्रोफेसरो का अंग्रेजी के प्रति अगाध प्रेम देखकर हम गुलामों ने भी अग्रेजी की प्रशसा करना शुरु कर दिया। हमारा पतन यहाँ तक हुआ कि जब कोई हिन्दी पढता है तो हमारे यहाँ के पठित मूर्ख पूछते है— हिन्दी क्यों पढते हो ? इसमें क्या रखा है। हम अभी तक भाषा और साहित्य का भेद भी नही समझ सके है। यही कारण है कि हम देश की महान प्रतिभाओ का आदर करना नही जानते। प्रेमचन्द, प्रसाद और आचार्य शुक्ल की तरह हमारी अन्य प्रतिभाएँ भी राख का ढेर हो जायगी; लेकिन हम उनकी इज्जत न करने के पापों का प्रायश्चित भी करने लायक आज नही है।

# हिन्दी साहित्य और नारी-चित्रण

हिन्दी साप्ताहिक पत्र के एक सम्पादक मित्र ने मेरी एक कहानी प्रकाशित की थी, साथ में एक पत्र भी दिया था। उसका एक वाक्य यों है "आपने अपने जीवन की एक घटना को ज्यो की त्यो शब्दो मे उतार लिया है।" उनके कहने का अभिप्राय यह था कि कहानी लिखते समय मैंने उसके मूलतत्वो का ध्यान नही रक्खा। बात सच थी पर एक सवाल पैदा हो गया। शायद ही कोई लेखक कहानी लिखते समय उसके मूलतत्वो का ख्याल रखता हो। वह तो 'कुछ' लिखता है। 'क्या' और 'कैसे' का विचार जनता बाद मे करती रहती है। चाहे वह कहानी न हो पर 'कुछ' है जरूर। कभी-कभी जीवन का सत्य काल्पनिक-साहित्य की अपेक्षा अधिक मनोरंजक भी हो सकता है। फिर ये भिन्न-भिन्न 'टेकनिक' और 'मूलतत्व' भी तो जनता ने अपनी रुचि के मुताबिकही बाद मे बनाये है। कोई नही कह सकता कि प्रसादजी के नाटक और प्रेमचन्द की कहानियाँ नाटयशास्त्र और कहानी के सिद्धान्तो की कसौटी पर पूरी ही उतरेगी, पर वे अच्छे नाटक है और अच्छी कहानियाँ। सिद्धान्त भी तो 'हृदय' और 'रुचि' के सहारे बदलते रहते हैं।

सितम्बर ३९ के 'साहित्य सन्देश' मे दो लेख निकले थे। एक है श्री जैनेन्द्रजी का और दूसरा है श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी का। दोनो विद्वान समालोचना सम्बन्धी अपना भिन्न दृष्टिकोण रखते है। कारण स्पष्ट है।

एक कलाकार है और दूसरा आलोचक। एक कहता है--'साहित्य की परख के लिए हृदय की संस्कारिता जैसी अचूक कसौटी है, शास्त्रीय पाण्डित्य वैसा नही है। अमुक पुस्तक कैसी है यह बतलाने के निमित्त हमारा वश इतना ही है कि हम कहे कि हमे वह कैसी लगी। दूसरा कहता है--यह तो कवि का काम है। किसी रचना को मानसिक संस्कारो के चश्मे से देखना ठीक नही, बुद्धि के द्वारा देखना चाहिए।" सोचने का तरीका दोनो का साफ और स्पष्ट है। अब हमे देखना है कि साहित्य मे नारी चित्रण 'कैसा' हो रहा है और समालोचना के इन दो विभिन्न दृष्टिकोणो मे से जनता का रुख किधर है।

सभी जानते है कि आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी समालोचना का एक अपना 'स्टैंडर्ड' रखते थे। प० पद्मसिंह शर्मा का 'सजीवन भाष्य' उन्होने इसीलिए प्रकाशित नही किया कि वह उनकी रुचि के खिलाफ था। भाषा की दृष्टि से वे उसे बदलना चाहते थे। श्री बख्शी के सम्पादकत्व मे वह प्रकाशित हुआ और जनता ने उसे खूब पसन्द किया। वास्तव मे किसी भी कलाकार से 'क्यो' का सवाल हम नही कर सकते। सच्ची कला अपने में 'क्यो' की गुन्जाइश नही रखती। महात्मा गाधी लिखते है--"हिंसा का फूट पडना भी निश्चित-सा है। जनता अपनी शक्ति और इच्छाओ को प्रकट करना चाहती है।" इन शब्दो से यही तो ध्वनि निकलती है कि जनता अपनी रुचि और हृदय के सामने आदर्श और बुद्धि प्रधान सिद्धान्तो की भी परवाह नही करती। ऐसी स्थिति मे आलोचना की बुद्धि-प्रधान कसौटी स्थिर नही रह सकती। आचार्यो के सिद्धान्तो से हम लाभ उठा सकते है, किन्तु उनके पीछे चलेगे ही, यह नही कहा जा सकता।

सब से प्रथम 'नारी-हृदय' पर विचार करना ठीक होगा। वर्तमान कहानी-साहित्य मे ऐसे चित्र देखने को मिलते है कि एक स्त्री अपने पतिको छोड कर दूसरे से भी प्रेम करती है। हो सकता है कि यह बुरी बात हो, पर इसका एक दूसरा भी तो पहलू है। "हम कहते है कि पति और पत्नी, भाई और बहिन, गुरु और शिष्या। यह सब ठीक है। ये तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योग-नियोग के मार्ग मे बने नाना सम्बन्धो के लिए हमारे नियोजित नामकरण है।" हृदय कहता है कि मूल मे तो वे है केवल--

पुरुष और नारी। अत वह पापिनी नहीं हो सकती। एक आलोचक एक वस्तु को अच्छी और दूसरा उसी को बुरी बताता है तो घबराने की बात नही। यही तो जीवन की स्वाभाविकता है। यदि निश्चित कसौटी पर साहित्य को कसने लग जाये तो हम शीघ्र उकता भी जायँगे।

आज के कहानी-साहित्य मे हम दूसरी बात देखते है --नारी की आत्महत्या। जब कोई विवाहित स्त्री दूसरो से भी प्रेम करती है तो हमारी बुद्धि का 'स्टेंडर्ड' उसे आत्महत्या करने को कहता है, लेकिन हम आज के नारी-चित्रण मे देखते है--'मनुष्य का स्वभाव नवीनता-प्रिय है। मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य-हृदय मे नाना प्रकार की भावनाएँ उठा करती है। प्रेम में जलन तथा द्वेष के लिए स्थान नहीं। एक स्त्री के निकट एक पुरुष विद्वत्ता के कारण, दूसरा शारीरिक सौन्दर्य के कारण, तीसरा आत्मा तथा चरित्र की पवित्रता के लिए तथा चौथा देशभक्ति तथा त्याग के लिए प्रशंसनीय हो सकता है। यही हाल प्रत्येक पुरुष का भी है।" इसीलिए प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि ऐसी ही परिस्थितियों में पुरुष क्यो नही आत्महत्या करता। विश्वव्यापी प्रेम स्त्रियो के ही पक्ष मे क्यो इतना सकुचित हो जाय कि वह एक पति तक ही सीमित रहे। यह जवानी और पुस्तको का सिद्धान्त पुरुषो ने अपने जीवन मे कहाँ तक उतारा ?

तीसरी बात है शिक्षा सम्बन्धी समस्या। सुशिक्षित नारीहृदय प्रेम को सच्चे अर्थो मे समझना चाहेगा कि प्रेमपात्र किसको बनाया जाय ? ऐसा हृदय यदि जबरदस्ती किसी के हाथो मे सौप दिया जाय तो वह अपनी तेजस्विता की रक्षा भी करेगा। ऐसी नारी पतिता क्यो ? क्या नारी का कोई व्यक्तित्व नही है ? वह पुरुष मे ही अपना व्यक्तित्व क्यो घुला-मिला दे ? क्या यह बन्दिश पुरुषो पर भी है ? वर्तमान रुचि पूछना चाहती है। क्रान्तिकारी नारी हृदय के दिमाग मे तूफान मच रहा है कि भारतीय साहित्य की द्रौपदी, मन्दोदरी तथा तारा आदि पच-महारानियो को हमारे आलोचको ने किस आधार पर आदर्श माना। सिर्फ तर्क के लिए तर्क देकर अवश्य ही कोई इस रहस्य को समझा देगा किन्तु वर्तमान हृदय ऐसे गढे हुए तर्कों को मानने के लिए कभी तैयार नही है। आखिर

समाज और साहित्य की इन बुद्धि-प्रधान आलोचनाओं द्वारा यह सब जुल्म किस लिए ? हमें न्यायाधीश का अधिकार नही । जैनेन्द्रजी के शब्दो मे " मै जानता हूँ कि साहित्य समालोचक इतना समर्थ प्राणी है कि वह जजी के कृत्रिम दायित्व को कभी अपने ऊपर नही ओढेगा । मोटे वेतन के ऐवज में जो दण्ड विधान के ताबे हो कर जज की कुर्सी से अनुशासन की व्यवस्थाएँ देते है, साहित्य-समालोचक को मै उस श्रेणी मे नही मानना चाहता । "

वर्तमान साहित्य की विचार धारा मे 'नारी समस्या' एक ऐसा प्रश्न है जिसकी अवहेलना 'साहित्य-निर्माता' कर ही नही सकता। इस क्रांति युग में जिसको रहना है, वह तो इस समस्या से अपने को अछूता न रख सकेगा। लेखक तटस्थता के किनारे खडा होकर ही यह सवाल साहित्यि को और धर्मध्वजियो के सामने पेश कर रहा है कि आखिर इसका 'हल' क्या होगा। यह तो असम्भव है कि हम इस ओर ध्यान ही न दे, क्योकि अभी हम 'मुर्दा' नही बने है। कोई यह भी न समझे कि हम पाश्चात्य सभ्यता प्रिय है। लेखक आर्यसभ्यता का उतना ही अभिमानी है जितना कोई भी हो सकता है। क्या कोई कह सकता है कि वैदिक काल में भी 'नारी' का यही हाल था जो आज है ? देश की राजनैतिक और धार्मिक स्थिति के अनुसार 'नारी जीवन' भी बदलता गया और आज फिर उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन होना चाहता है। यही हमें सोचना है कि इस आन्दोलन मे कुछ तथ्य है या नही ? यदि है तो वर्तमान हिन्दी साहित्य की विचारधारा भी इससे बच नही सकती। अत. हम लोगो के लिये यह आवश्यक हो गया है कि इस समस्या पर ठण्डे दिमाग से सोचे।

"हम और आप सडको पर चलती हुई सौन्दर्य की चलती फिरती पुतलियो को देख कर अपने दिलों पर हाथ रख सकते है, इसका हमें पूर्ण अधिकार प्राप्त है, और हमारी यह भावना सीधासादा सौंदर्य प्रेम कह दी जा सकती है, परन्तु स्त्रियो के लिये चिकों की ओट मे खडा रहना भी क्यो दूषण है ? आप कहेगे कि इससे अनीति और दुराचार बढेगा। मै भी मानता हूँ; किंतु स्वय अपने ऊपर नियंत्रण तथा शासन न रखकर आप को उन्हे दबाने का क्या अधिकार है? " साहित्य सेवी इसका क्या उत्तर

देंगे? "बड़े और ऊँची नाक रखनेवाले लोग दुराचारी हों, लपट हों, वेश्याएं रक्खें, समाज इसे दबा देगा, चू भी न करेगा। देवताओ ने स्त्रियोंके साथ व्यभिचार किया किंतु वे सदा देवता बने रहे, ऋषि मुनियो ने पर-स्त्री के साथ काम-केलि की, वे सदा मान्य वने रहे। उनके विरुद्ध कोई कैसे बोले? समर्थ जो थे।" उलटे उनके कामो पर 'प्लास्टर' लगाया गया और उनकी कामकेलि के सात्विक अर्थ लगाने में पाण्डित्य खर्च किया गया। क्योंकि लेखनी पुरुषो के हाथ में जो थी। क्या कमजोर स्त्रियो के लिये ही यह आचार विचार, समाज, पोथे-पुराण और धर्म बन है? आज की नारी भयानक रूप धारण करके इन बन्धनो मे मिट्टी का तेल डाल कर आग लगा दे तो क्या बुरा करनी है? फिर भी क्या सोचा जा सकता है कि इस क्रांतिकारी आन्दोलन की ओर से नवयुवक साहित्य-सेवी आंखें बन्द कर ले? यह भी तो एक सवाल है।

"दया, सत्य और प्रेम की मूर्ति नारी ही तो है। स्त्री महान है, पवित्र है, महामाया है और अन्नपूर्णा है। नारी सेवा और त्याग की देवी है, आत्म समर्पण उसका धर्म है।" ओह! नारी तेरी कितनी सुन्दर परिभाषा! पक्षीको फँसानेके लिये कितना बढिया रत्न जटित सोने का पिंजरा। लेकिन यह किस शिल्पी ने बनाया है? स्त्रियो की लेखनी क्या पुरुषो के लिये ऐसी परिभाषा नही बना सकती? इतनी आदर्श व्याख्या पुरुषो के लिये भी तो हितावह हो सकती थी। लेकिन उसने अपने लिये कौनसी परिभाषा बनाई है। जरा उसका भी तो प्रदर्शन हो। नारी हृदय के सोचने का क्या यह तरीका गलत है? नई पीढी के लेखको पर क्या इसका कुछ भी असर न होगा?

लोग कहते हैं और कुछ स्त्रियाँ भी कहती है—"स्त्री के लिये पति ही देवता है। ठुकरा दे चाहे प्यार करे। चरणो में स्थान दे, या काटे की तरह निकाल फेंके। पति के लिये मरने का अवसर सब को नही प्राप्त होता। जिसे यह अवसर मिलजाय, उसे अपना जीवन धन्य समझना चाहिये।" देखिये न, क्या अच्छा गुरुमत्र है। सरल और पवित्र हृदय नारियो ने इसी सिद्धान्त पर अपना 'कोमल शरीर' अग्निदेव को समर्पण कर दिया जिसके लिये जानते हो उन्हें इस बीसवी सदी मे कौन सा

'सर्टिफिकेट' मिल रहा है ?— मूर्खता। क्या किसी पुरुष ने भी अपना 'कठोर शरीर' जलाया ? यह एक पक्षीय न्याय क्यो ? वर्तमान साहित्य की विचार धारा को वदल देने का अधिकार रखनेवाले साहित्य सेवी क्या इन प्रश्नो को दूर से ही गोली मार देंगे ? अधिक समीचीन होगा यदि मैं यहां पर एक विदुषी महिला के विचार प्रगट कर दूं क्योंकि कुछ लोग समझते है कि 'नारी समस्या' पर स्त्रियो को ही कहने का ज्यादा अधिकार है। श्रीमती सरला वाई नायक एम. ए. लिखती हैं—हम हिंदू लोगो मे यह कहने का फैशन हो गया है कि स्त्रियाँ ही धर्म रक्षा करती है। इस वात का हिंदू स्त्रियो को अभिमान भी होता है। परन्तु धर्म की यह रक्षा विगडे हुए सरदार के खजाने की रक्षा के समान है। क्योंकि जैसे उस खजाने में क्या क्या जवाहरात है यह देखने का उस खजाने की रक्षा करने वाले पहरेदार को अधिकार नहीं है, उसी प्रकार धर्म के गहन तत्व समझने का और अपनी वुद्धि के अनुसार इन तत्वों का उपयोग करने का हम स्त्रियो को भी अधिकार प्राप्त नही है।" शिक्षा विभाग की सव से वडी उपाधि धारी महिला के ये उद्गार हैं। नारी हृदय का पता लगाने के लिये और क्या प्रमाण चाहिये ? कितनी मार्मिकता है इन शब्दों में। क्या फिर भी साहित्य की विचार धारा पर नारी समस्या का प्रभाव न पडे ऐसा कोई सोच सकता है।

राष्ट्र निर्माण मे 'नारी-समस्या' महत्व पूर्ण स्थान रखती है अतः वर्तमान लेखकों के लिये यह कम पेचीदा सवाल नही है कि वे इस समय किस हृदय को अपनावे। वस्तुतः वस्तुस्थिति के अनुसार साहित्य की विचार धारा स्वयं अपनी गति से आगे वढ रही है। वह कोई वन्धन नहीं चाहती। 'वुद्धि' इसका कौनसा मान वनायेगी ? यह भी एक प्रश्न है। लेखक का अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि हिन्दी साहित्य की विचारधारा मे 'नारी चित्रण' की क्या स्थिति है, वह किस ढंग मे किया जा रहा है और वास्तव मे कैसा होना चाहिये, इन वातो की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर दे। साहित्य का लेखक हो या आलोचक उसे मनोभावों और वुद्धि का समन्वय करना चाहिये।

## काव्यकला की श्रेष्ठता तथा साहित्य और सहृदयता

मनुष्य की सुख दुख मयी अनुभूति जब अभिव्यक्ति चाहती है तब कला की उत्पत्ति होती है। अभिव्यक्ति के आवेश को मनुष्य रोक नही सकता, वह स्वत. प्रस्फुटित होती है। 'कला' के व्यापक अर्थ मे तो उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ दोनो शामिल है। इसका यह अर्थ नही है कि ललित कलाओ मे उपयोगिता नही, पर इनमे 'सौन्दर्य' की प्रधानता रहती है। सच्चे अर्थोमें ललित कलाएँ ही 'कला' कहलाने की अधिकारिणी है। प्रगतिशील जीवन का व्यक्तिकरण लिपिबद्ध होते ही 'साहित्य' के अन्तर्गत आ जाता है पर साहित्य के वास्तविक अर्थ मे वह उसी स्थितिमें ग्रहण किया जायगा जबकि वह अनुभूतिशील हो और रागात्मक वृत्तियों से सम्बन्ध रखता हो। 'कला' काल्पनिक वस्तु हो सकती है पर वह आनन्दपरक होने के कारण 'सत्य' है। सौन्दर्य और सत्यका सम्मिश्रण ही सच्ची कलाके लिये अपेक्षित है। मेघो को देखकर मयूर नाच उठता है। फूलोपर भ्रमर झूम जाता है और कोयल कूक उठती है। क्यो ? उपयोगिता की दृष्टिसे चाहे इनका कोई महत्व न हो किन्तु यह सब स्वाभाविक है, सौन्दर्य प्रधान है, आनन्ददायक है और सत्य है। असुन्दर के लिये यहा जगह नही। कोयल की मदमाती आवाज सुनकर हम कह उठते है कितना कलापूर्ण! क्या कौवेकी काँव-काँव सुनकर भी हमारे मुहसे यही उद्गार निकलते है ? पहाडी से गिरता हुआ जल कितना सुन्दर और प्यारा लगता है पर किसी किलेकी ऊँची दिवाल से गिराये हुए पानी में वह रस कहाँ! क्योकि उसमें न तो वह सुन्दरता है और न स्वाभाविकता।

विद्वानोने 'ललितकला' के पाँच भेद माने है– स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, सगीत और काव्य। आत्मानुभूति की अभिव्यजना मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारसे कर सकता है अत ललितकला इन पाँच भेदोमे ही सीमित नही हो सकती। जवकि सचारी भाव असख्य हो सकते है, आचार्यानुमोदित रसोकी सख्या वढ सकती है, तब यह कोई कारण नही कि आत्म-प्रकटीकरण के जरिये न वढ सके। किन्तु प्राचीन आचार्योने कुछ सोचकर ही ऐसा किया है क्योकि अन्य प्रयत्न भी इन पाच भेदोमेसे किसी-न-किसीके अन्तर्गत ही रहेगे।

'कला' की श्रेष्ठता स्थापित करनेके लिये कोई सर्वसम्मत सरल कसौटी नहीं है पर तब भी कुछ ऐसी बाते है कि जिनके आधारपर हम यह जान सकेगे कि ललित कलाओमें काव्य–कलाका क्या स्थान है? साहित्यिकोका मत है कि 'कला' के प्रदर्शनमे हमे कुछ भौतिक उपकरणोकी जरूरत पडती है। वाह्यसामग्री जितनी ही कम होगी, कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी। यदि कला मूलत. सौन्दर्य प्रधान है तो यह स्पष्ट है कि जो कला सौन्दर्य–वृद्धि करनेकी अधिक शक्ति रखती है उसको उच्च स्थान दिया जाना चाहिये। कला रसमूलक भी है। अत. यह तीसरी कसौटी होगी कि दर्शक या श्रोताके हृदयमे जो अधिकाधिक रसका सचार करे वह सर्वोच्च कला मानी जानी चाहिये।

स्थापत्य और मूर्तिकला तो काव्य कलाके सामने ठहर नही सकती। 'स्थापत्य' की वाह्यसामग्री चूना, ईट और मिट्टी आदि है तो मूर्तिकलाका मूर्त आधार है पत्थर के समान कठोर वस्तु। ये दोनो कलाएँ काव्यकलाकी भावाभिव्यंजनाकी वरावरी नही कर सकती। चित्रकला शान्त और निष्क्रिय सौन्दर्यका ही प्रकटीकरण करती है, लेकिन काव्यकला सौन्दर्य का क्रियात्मक एवं गत्यात्मक स्वरूप हमारे सामने रखती है। किसी सौन्दर्यमयी के 'चतुर चितेरे' को बिहारीलालजीने 'कूर' ठहरा ही तो दिया। चित्रकला के सौदर्य का अनुभव अन्धा नही कर सकता पर काव्य सुनकर तो नेत्रहीन भी मजा लूट सकते है। काव्य की वरावरी में आकर यदि कोई कला बैठने का दावा कर सकती है तो बस वह है सिर्फ सगीतकला। 'साहित्य-संगीत कला

विहीन' कहनेवालेने भी 'सगीत' को ही साहित्य (काव्य) के पास आसन दिया है। सगीत का असर पशुओपर भी होता है। कुछ लोगो का कथन है कि सगीत मे स्थिरता नही है। इसका कारण शायद यह हो कि सगीत मनुष्य के हृदय पटलपर कोई स्थायी भाव नही छोड जाता। जबतक हम आलाप सुनते रहेगे तबतक तो झूमते रहेगे पर ज्योही उधर सगीत बद हुआ कि हम ज्यो-के-त्यो, किन्तु काव्य अपना गहरा असर छोड जाता है। सूरकी रचना आज भी अमर है, तानसेन के तराने हवामे उड गये। साहित्याचार्योने इसीलिये 'काव्य' को एक सर्व श्रेष्ठ कला माना है।

'साहित्य' के साथ जब सहृदयता का नाम लिया जाता है तो अक्सर लोग पूछ बैठते है—आखिर सहृदयता है किस बला का नाम। हमें हर एक बात की परिभाषा बनाने की आदत हो गई है। जब हम किसी वस्तु को सामने रखकर दूसरो को समझाने की कोशिश करते है, तब परिभाषा की उत्पत्ति होती है और जब हम किसी वस्तु को दिल मे समझने की कोशिश करते है तब हम सोचते है मौन होकर। उस स्थिति में हम गूगे की तरह खूब अनुभव कर जाते है, पर परिभाषा का अभाव हमें नही खटकता।

किसी जलाशय मे छोटासा ककर डाल दीजिये। उसमे तूफान नही उठेगा, पर तब भी छोटी छोटी लहरे, पैदा होकर एक दूसरी मे और दूसरी तीसरी मे आत्मसात होने लगेगी। फिर किनारे पर पहुँच कर तट से टकरा जायेगी। यदि जलाशय का बाँध पक्का न रहा तो अन्तिम लहर धीरे से अपनी सीमा के बाहर ढुलक पडेगी। ठीक यही हाल हृदय सरोवर का भी है। एक छोटी सी घटना भी उसमें हलचल मचा सकती है। छोटी छोटी भाव लहरियो और काफी घात प्रतीघात के पश्चात् उन भाव लहरियो की एक विजयी लहर या तो हमारे आँसुओ के द्वारा निकल पडेगी अथवा मजबूर होकर हमे कुछ लिखने को विवश करेगी या कम से कम जबानी बडबडाहट ही करवा देगी। तब कही हृदय सरोवर में शान्ति होगी। अत. स्पष्ट है कि लेखक के पास जितना ही सरल हृदय होगा उसकी अनुभूति उतनी ही तीव्र होगी और उसकी लेखनी कभी नही रुक सकेगी। सहृदयता मानव हृदय का गीलापन है।

जिनको सिवा अपने स्वार्थ के कुछ दीखता ही नही उनका सहृदयता से क्या सम्बन्ध। सकुचित हृदय क्यो सोचने लगा कि आत्मवाद से बढकर कोई मानववाद भी है ! अपने को अमर समझने वाला अन्धा दूसरो के हृदय को कैसे समझे।

सहृदयता और सभ्यता का गहरा सम्बन्ध है। यदि हम इन दोनो को बहने कहदे तो कोई हर्ज नही। सहृदयता के बिना भी मनुष्य सभ्य कहा जा सकता है इसमे मुझे सन्देह है। ऐसी सभ्यता मक्कारी हो सकती है, रसमय नही। हृदयहीन सभ्य दूसरो का गला भले ही काटले पर वह किसी का जीवन नही सुधार सकता। यदि उसके पास धन की मादकता है, तो वह निर्लज्ज भी बन सकता है क्योकि जमीन पर चलनेवालो की अपेक्षा वह अपने को कुछ अधिक समझने लगता है। सहृदयता और साहित्य का तो गठबन्धन है। सहृदयता भगवान का वरदान है। जिसके पास यह नहीं वह अमर कलाकार कभी नही हो सकता। लेखक मे उदारता का होना जरूरी है, क्योकि इस गुण के बिना वह दूसरो के साथ न्याय नही कर सकता और यह गुण सहृदयता के बिना प्राप्त नही हो सकता। यह हमारे विचारो को व्यापक बनाता है जिससे कि हम विश्वकल्याण के काम आवे और सकुचितता के कटघरे मे फसे न रहे।

सहृदय आदमी जीवन के रहस्यो को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है, उतना दूसरा नही। उसका हृदय निर्मल दर्पण की तरह स्वच्छ रहता है जिसपर ससार की पचरगी व्यावहारिकता का असर बहुत जल्दी पडता है। एक छोटी सी बात साधारण आदमी के लिये कोई महत्व नही रखती पर किसी दिलवाले के दिल में तूफान मचा सकती है। कभी कभी तो इसका नतीजा इतना भयानक होता है कि वह उसके जीवनप्रवाह को बदल देने में भी समर्थ हो जाता है। सहृदय आदमी ही साहित्य का सच्चा निर्माता है क्योकि वह हृदय की प्रेरणा से ही लेखनी उठाता है।

'साहित्य' के सौन्दर्य को समझने की शक्ति सब में नहीं होती। जिसको सहृदयता-देवी वरण करती है, वह बिरला ही काव्य के रस को लूट सकता है। वैसे तो हरएक लिखा पढा मदान्ध आदमी काव्य की गहराई

को समझने का दावा करता है। पाँच पचास श्लोक रटकर रईसो का दिल बहला सकता है और रसिक तथा सहृदय बना घूमता है। यह उसी तरह की बात है कि प्रत्येक आदमी 'राम नाम सत्य है" की भयानक सचाई के हृदयंगम की डीग तो मारता है, लेकिन कोई डाँटकर पूछे— अरे मूर्ख, हृदय टटोलकर बता कि इस महामन्त्र के महत्व को तू समझा है क्या। फिर देखिये, उसके होश उड जायेंगे। निम्नाकित पंक्तियो को पढकर वही आदमी रसमग्न हो सकता है जिसके पास किमी व्रजरमणी का सा हृदय हो।

शुष्क हृदय तो केवल शाब्दिक अर्थ से ही सतोष कर सकते है। उनकी किस्मत में वह स्वर्गीय रस कहा ?

'फनी फॅनर्न पर अरपे,
डरपे नाहिं नेकु तब।
छतियन पर पग धरत,
डरत क्यो कान्ह कुअर अब ?
जानति है हम, तुम जु
डरत व्रजराज—दुलारे।
कोमल चरण सरोज,
उरोज कठोर हमारे॥
हरे हरें पिय धरो,
हमहु तो निपट पियारे।
कित अटकी मे अटत,
गहत तृन कूप अन्यारे॥

कविवर नन्ददास की इन पवितयो मे रस छलछला रहा है। रवीन्द्र की गीताजली सभी लोग समझते है, लेकिन क्या उसी हृदय से जिसने उन्हे 'नोबलप्राइज' दिलवाया ? वह सहृदयता है जिसके बिना न तो साहित्य के मर्म को समझा सकता है और न साहित्य का निर्माण ही हो सकता है।

## साहित्य और जीवन : आदर्श और यथार्थ

चिंतनशील व्यक्तियोका मस्तिष्क मनन करते करते पागल हो उठा, किन्तु आजतक कोई भी एक निश्चित् नतीजेपर नही पहुँच सका कि 'जीवन' क्या है। हम अपने अभीष्ट विन्दुपर लक्षित होकर कुछ सोचते है, उसके प्रथम ही वह विन्दु अपने स्थान से सरक जाता है। जीवन नित नूतन और प्रतिपल परिवर्तनशील है। यही कारण है कि उसे परिभापामें कोई परिवेष्टित न कर सका। वैसे भी जव हम किसी वस्तुकी व्याख्या करते है तो इसका यही अर्थ होता है कि हम उस वस्तुको अधिकाधिक समझाने की कोशिश करे। लेकिन इससे कोई यह न समझे कि वह कोशिश अपनी परिभाषा में वस्तुकी पूर्ण परिभाषा रखती है। फिर जीवन तो एक अजीव पहेली है, जिसको समझना आसान नही। किसी भी वस्तुको समझने मे हम न केवल उसकी गहराईमे जाते है वरन् उसके साथ एकरूप हो जाते है। हमारे समझने के लिये यदि सवसे वडी वात कोई है तो वह खुदको समझना है। जवतक हम खुदको नही समझते तवतक जीवन की पहेली नही सुलझा सकते। 'जीवन' को समझने के लिये साहित्य का अध्ययन जरूरी है। प्रेमचन्दजीने वहुत ही ठीक लिखा है कि मानव सस्कृतिका विकास ही इसलिये हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इस सत्यकी खोज मे लगा हुआ है। अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग मे रसका मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद वना देता है, इसीलिये अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियो के लिये है तथा साहित्य मनुष्य मात्रके लिये। इस कथन से स्पष्ट है कि मानव-जीवन को समझने के लिये साहित्य से वढ़कर सहायककोई नही।

मानव जीवनका भी कुछ अनुभव होता है। जब हम उसे साहित्यमे पढते है तब सोचने लगते है कि वह हमारे हृदयके नजदीककी बात है, हालाँकि वह हमारा अनुभव नही रहता। तब भी हम गद्‌गद्‌ हो जाते है। इसका कारण साहित्यिककी व्यापक अनुभूति है। इसलिये हम उस व्यापक अनुभूतिमें अपने जीवनका आभास पाते है। यदि जीवनमें भिन्नता न होती तो साहित्यका निर्माण ही रुक जाता। पृथ्वीसे पूछिये, तो वह अपनी मौन भाषामे सहनशीलताको ही जीवन कहेगी। किसी नदीसे पूछिये वह कहेगी कि इधर-उधर उछल-कूदकर अपना अस्तित्व मिटा देना ही जीवन है। और भौंरा केवल इसीको जीवन समझता है कि जहाँ कुछ मिल जाय, हाथ साफ करो और चलते बनो। शायद फूल हँसनेको ही जीवन समझता हो और शलभ जल जाने को। कोई किसीको भी जीवन समझे, मानव जीवन में सबके लिये गुजाइश है। यही कारण है कि जब हम साहित्य पढते है, तब किसीके भी जीवनका वर्णन हो, हम उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकते, क्योकि उसमें भी हम अपने विशाल जीवनके किसी पहलूका चित्र देखते है।

साहित्य और जीवनका एक विचित्र एव अटूट सम्बन्ध है तथापि कुछ लोग कहते है कि वर्तमान समय मे साहित्य और जीवनकी धाराएं दो भिन्न रास्तोपर बह रही है, तब कुछ आश्चर्य होता है। आखिर साहित्य है क्या ? वैसे तो सफेदपर काला अक्षर शायद साहित्यकी व्यापक परिभाषामे आ सके किन्तु जिस आनन्दमय साहित्यका हमारी रागात्मक वृत्तियोसे सम्बन्ध है वह वस्तुस्थितिसे दूर कैसे जा सकता है। हमारे साहित्यके इतिहासमे 'वीरगाथाकाल' और 'भक्तिकाल' नामक शब्द अपनी समसामयिक प्रवृत्तियोके परिचायक है। यदि साहित्य प्रगतिशील जनताकी चित्तवृत्तियोका प्रतिबिम्ब है तो यह जीवनकी की धारासे दूर न रह सकेगा। व्रजभूमिका कृष्ण-साहित्य यदि तत्कालीन राजनीतिसे दूर भी रहा हो, तो उसका स्पष्ट कारण मौजूद है। तथापि उस साहित्यसे लाखो हृदयो को शान्ति मिली है और यह बावन तोला पाव रत्ती कहा भी नही जा सकता कि उसमें समयका प्रतिबिम्ब बिलकुल ही देखनेको नही मिलता। मानव हृदयसे वही बात निकलेगी जिसका वह अनुभव करेगा।

यह एक दूसरी बात है कि हमारे वर्तमान कलाकारोंका अपने अनुभवोंके प्रगट करनेका ढंग, शैली और तरीका कुछ अटपटा-सा हो, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं हो सकता कि उनकी विचारधाराका लोकजीवनसे समन्वय नहीं। वर्तमान किसी भी कविको लेकर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उसकी कृति देशकालसे अलग है। उसमें कुछ रचना अवश्य ऐसी मिलेगी, जिसमें हम समयका प्रतिबिम्ब देखेंगे। सुखी जीवन बितानेवाले कुछ लोग हमारे कवियों के हृदय का अनुभव नहीं कर सकते, इसलिये वे हमेशा कहा करते हैं कि वर्तमान साहित्य वास्तविक जीवन से बहुत भिन्न है। आखिर वे चाहते क्या हैं? यह तो कभी नहीं हो सकता कि कलाकार अपनी आत्माके विरुद्ध इन थोड़ेसे लोगोंके खुश करनेके लिये अपना रोना शुरु कर दे। किसी कृतिको देखकर हमें यह सोचना चाहिये कि वह कैसी बनी है, क्यों बनी है, और किस भावनासे प्रेरित होकर बनी है और कलाकारको वह प्रेरणा किधरसे मिली। हमें यह कहनेका अधिकार नहीं कि ऐ कलाकार! तुमने अपनी कृतिको इस तरह क्यों बनाया? यों क्यों नहीं बनाया? यदि कोई उससे ऐसा कहनेका साहस करेगा तो वह झल्ला उठेगा या फिर मुस्करा देगा। यह हमारा केवल भ्रम है कि साहित्य जीवनसे दूर जा रहा है। इस मतके माननेवाले अधिकतर राजनीतिक और कुछ थोड़ेसे साहित्यप्रेमी व्यक्ति हैं। यह कोई जरूरत नहीं कि हम कलाकारको दोष दें। क्यों न हम उसके हृदयको समझनेकी कोशिश करें। साहित्य-निर्माता भी तो आखिर मनुष्य है, भावुक और सहृदय, जिसपर हमारी अपेक्षा दुनियाके दुरंगेपनका अधिक प्रभाव पड़ता है। यदि वर्तमान लेखक कहने लगे कि पाप और पुण्य मूर्खोंको समझानेके लिये पाखण्डियों द्वारा बनाये गये शब्द हैं, सुख और दुखका भेद हमारी अज्ञानता है, वस्तुतः मनुष्यको चाहिये कि जीवनके अंतिम क्षणतक वह वीर सिपाहीकी तरह परिस्थितियोंसे झगड़ता रहे और हँसते-हँसते मर जाय, तो सम्भव है कि कोई आदमी इन विचारोंको आदर्शहीन समझे, लेकिन ऐसा समझनेके पहले जरूरत है कि वह लेखकके हृदयको टटोले कि उसमें ये विचार क्यों पैदा हुए।

हम मानते हैं कि साहित्य केवल लोकजीवनका प्रतिबिम्ब ही नहीं, वह एक निर्माणकारी शक्ति भी है। किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब

अधिकारके ओहदोपर बैठकर लोकजीवनकी वास्तविकताको भूलजानेवाले लोक भी सतर्क कलाकारो को दोष देते है। मानलिया जाय कि कोई कवि अपनी व्यक्तिगत एकान्त साधनामे मस्त है तो इससे यह नही कहा जा सकता कि वह वर्तमान हिन्दी साहित्यमे सुरीले छन्दोका इन्द्रजाल बना रहा है, उसमे बासीपन और सडापन भरा है, वह कुहुकमय छायावादकी खुमारीसे नही उठा और हाला-प्याला-बाला के चक्करमे फसा है। सभव है इस एकान्त साधकको अभी किसीने न समझा हो। एक पागलकी चेष्टाएँ, हलचल इशारे, बेबुनियादी बाते और व्यर्थकी हँसी दूसरे लोगोके लिये 'पागलपन' हो सकती है, लेकिन उस पागलके लिये ? इसका उत्तर किसने सोचा है? कुछ विद्वान सोचते है कि हमारे मानसिक अध पतनकी स्मृतियाँ ऐतिहासिक दृष्टिसे भले ही महत्वपूर्ण हो, किन्तु वह साहित्य नही कहला सकती। यह तो युग विशेषकी बात है। सभव है कि समयकी चोट खाकर साहित्यकी सकुचित परिभाषाका यह मुलम्मा उतर जाय, अन्यथा पीयूषवर्षी बिहारीलालको आज कौन पूछता। सच तो यह है कि सरोवरका वर्णन करने के लिये हमे तटपर खडा रहना पडेगा, लेकिन जलकी ठण्डकका अनुमान करनेके लिये तो पानीमे प्रवेश करना अनिवार्य है अन्तमे यह जरूरी है कि प्रस्तुत विषयके छिपे पहलूपर भी दो शब्द कह दूँ। अभी तक जो कुछ लिखा गया है उसका सिर्फ यही तात्पर्य है कि हम हमारे कलाकारोके साथ न्याय और सहानुभूतिके साथ पेश आये। लेखक यह अच्छी तरहसे जानता है कि साहित्यिक का कार्य लोकजीवनका केवल 'फोटो' खीचना ही नहीं, वरन ऐसा 'फोटो' तैयार करना है जिसे आदर्श समझकर ससार के लोग उसकी समता मे आ सके।

'सत्य' चाहे ब्रह्म-स्वरूप होनेके कारण अपरिवर्तनीय हो, किन्तु इतिहास तो यही बतलाता है कि सत्यके महान उपासकोने जहाँ भोली-भाली जनता को आदर्श 'सत्य' की ओर सकेत किया, वहा निजी स्वार्थ के समय 'सत्य' की परिभाषा बदलकर लाभ उठाया। ससार का इतिहास कुछ ऐसा ही है। पता नही दुनिया मेरे इस अनुभव को आदर्शवाद के अन्तर्गत मानेगी या यथार्थवादके, किन्तु इसमे एक 'सत्य' हिलोरे ले रहा है, इससे कोई इनकार नही कर सकता।

आजकल 'आदर्श' और 'यथार्थ' की हिन्दीमें बहुत अधिक चर्चा हो रही है। ईश्वरने मनुष्य को दो आँखे दी हैं अतः प्रत्येक वस्तुको यदि वह दो दृष्टिकोणसे देखे तो स्वाभाविक ही कहा जायगा। मनुष्य में 'नम्रता' गुण भी हो सकता है और किसी मौकेपर दोष भी। 'आदर्श' मानव-हृदय के धरातल की पृष्ठभूमिसे कुछ ऊँचेकी चीज है और 'यथार्थ' समतल भूमिके पास की। हृदय का धर्म है कि वह ऊँचाई की ओर बढ़े, अतः मनुष्य स्वभावतः आदर्श की ओर चलना चाहता है, क्योंकि वह उसको श्रेयस्कर समझता है। चाहे वह सुखकर न हो, उसकी परवा वह नहीं करता।

'आदर्श' का सम्बन्ध 'उधारधर्म' से है क्योंकि आदर्श बातोंका पालन मनुष्य इसीलिये करता है कि उसका परलोक सुधरे। सीधा-साधा सात्विक एवं सच्चरित्र आदमी कष्ट सहन करके भी क्यों आदर्श का पालन करता है? इसी आशासे न कि आगे चलकर उसकी अच्छी बातों का फल अवश्य मिलेगा। 'यथार्थ' का सम्बन्ध 'नगद धर्म' से है क्योंकि उसका परिणाम प्रत्यक्ष रूपमें दीखता है। स्वर्गके झूठे स्वप्नोंकी कल्पना यथार्थवादी नहीं करता। आदर्श परोक्ष से सम्बन्ध रखता है और यथार्थ प्रत्यक्ष से। पहला भविष्यकी ओर देखता है और दूसरे की आँखें वर्तमानपर टिकी हैं। लेकिन भविष्य और वर्तमान आपस में चिपके हुए हैं अतः एक दूसरेकी उपेक्षा नहीं कर सकते। कलका वर्तमान आज का भविष्य है। नियम हमने पीछे बनाये हैं, यथार्थताके पहले नहीं।

प्रगतिशील मानव हृदयने अपनी साधनाके बलपर कुछ बातोंको 'आदर्श' मान लिया है। उदाहरणके लिये सत्य को लीजिये। क्रान्तिकारी हृदय आज पूछना चाहता है कि 'असत्य' क्यों न आदर्श माना जाय। संसारमें ऐसा कोई आदमी नहीं, जो कभी झूठ न बोला हो। झूठ बोलनेसे व्यवहारमें लाभ भी होता है और सत्यसे हानि। 'झूठेपन' का अस्तित्व तब से है जबसे मानव हृदयका इतिहास मिलता है। तब क्यों यह मानव इन दोनोंमें से 'सत्य' ही को अधिक महत्व देता है। 'सत्य' को देव और 'असत्य' को क्यों दानव समझा गया है? इन दलीलोंके विरुद्ध तर्क तो किया जा सकता है पर वह समुचित, सुन्दर एवं सन्तोषजनक हो सकेगा या नहीं यह कहना कठिन है।

प्रेमचन्दजीको लोग आदर्शवादी मानते है, तो 'उग्र' जीको यथार्थवादी। किन्तु उनमे वह कौनसी बात है जिससे हम आदर्श और यथार्थकी भेदक-रेखाको पहिचानकर उन्हे अलग अलग कर देते हैं। पहला लेखक किसी कुलीन महिलाको महीनोतक वेश्याओके अड्डोमे भी पवित्र रख सकता है, तो दूसरा लेखक चिल्ला उठेगा कि यह हो ही नही सकता। दोनोमे 'सत्य' की अधिकता किसमे है, ससारका अनुभव इसका निर्णय करे।

व्यवहारिक जगतमे हम अच्छी और बुरी दोनो बाते देखते हैं, पर अपने बच्चोका ध्यान अच्छी बातोकी ओर खीचते हैं, साथ ही उन्हे बुरी बातोसे बचनेकी हिदायत देते हैं। ऐसा क्यो? हमारे हृदय का प्रवाह पूर्णताकी ओर दौड रहा है, इसलिये हमारे जीवनको ऊँचाईकी ओर ले जानेवाली बातोको हमने आदर्श सज्ञा दी। इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचे कि 'यथार्थ' अच्छाई और बुराईका सम्मिश्रण है तथा 'आदर्श' केवल अनुमानित अच्छाई लिये हुए है और वह भी समयानुसार बदल जाता है। ससारमें बुराईकी ही प्रबलता है। ऐसी स्थितिमे 'यथार्थवाद' की अच्छाइयोका दब जाना अधिक स्वाभाविक है। इसीलिये जब कोई लेखक हमारी कमजोरियोका नग्नचित्र खीचता है तब हम लोग रोष कर उठते है, किन्तु उसमें छिपे हुए अमिट सत्यको कौन नही मानेगा। उसी तरह जब कोई लेखक उदात्त एव दैवी प्रवृत्तियोका चित्रण करता है, तब हम कुछ ऊबसे जाते है क्योकि वे हमारे जीवनसे दूर जा पडती है।

मेरे एक विद्यार्थी ने सहजभावसे पूछा—'हरिश्चन्द्र नाटकमे रोहिताश्व को पुनर्जीवित करनेके लिये भगवानको प्रगटकरानेकी जरूरत क्यो हुई? क्या यह कार्य दूसरे ढगसे सम्पादन नही हो सकता था?' प्रश्न छोटा-सा है पर अपनेमें जिज्ञासाकी कुछ गहराई भी रखता है। हरिश्चन्द्रकी कहानी हमारे प्राचीन युगसे सम्बन्ध रखती है। जहाँ सत्य, धर्म, नारद तथा देवेन्द्र अभिनय करते हो, वहाँ भगवान भी प्रगट हो सकते है। पर इन बातों को इस नवयुगका यथार्थवादी हृदय माननेके लिये कभी तैयार नहीं। भगवान प्रगट होनेकी आकाशपुष्पवत् बातें वह कैसे मान ले। तात्पर्य

यह है कि जो बाते जीवन के प्रत्यक्षसे मेल नही खाती, उन्हे हम नही मानते, चाहे वे कितनी भी अच्छी और आदर्शपूर्ण हो ।

जब कभी कोई आदमी आदर्श पूजीपतिके यहा नौकरीके लिये जाता है, तब चट उससे प्रश्न किया जाता है तुमने पहले किसके यहा नौकरी की थी ? तुम वहासे क्यो हटे ? बस, ऐसे ही परपरासे चले आये हुए नपे तुले प्रश्न जिस उद्देश्यसे पूछे जाते है, वह स्पष्ट है । लेकिन वर्तमान युगकी वस्तुस्थितिमेसे गुजरनेवाला हृदय यो सोचनेके लिये मजबूर होगा कि प्रश्नकर्ताका उद्देश्य इसके सिवा कुछ हो नही सकता कि वह जानना चाहता है—हमने अपनी आत्माको पहले कहा बेचा था और अपने मालिककी चापलूसी करने मे कहातक सफल हुए थे । उसके जो कुछ उत्तर होंगे उमीपर उमके भाग्यका फैसला होगा । नौकरीके पेशेवाले आज इसी कसौटी पर कसे जाते हे । अब सवाल यह है कि सोचनेके इस तरीकेमे यथार्थता है या नही । बहुतसे दीमाग इसके विरुद्ध तर्क कर सकते है, किन्तु कोई यों भी बोल उठेगा कि तर्क करनेवाले उन लोगोमे से है जिनका मस्तिष्क तो तरक्की कर रहा है पर हृदयमे कीड़ा लग गया ।

'सत्य शिव सुन्दरम्' का दर्शन हम वहाँ करेगे जहा 'आदर्श और यथार्थ' वादका समन्वय होगा । इन दोनोका एकीकरण ऐसा हो कि दोनो एक दीखने लगे । भारतीय साहित्य की विशेषता 'समन्वय' है । अकेला एक तो "सम्पूर्ण" नही कहा जा सकता ।

# हिन्दी का नाटक साहित्य

'नट' धातु का अर्थ होता है 'नाचना'। सभी देशों के नाटको में 'नृत्य' की प्रधानता रहती है। वैसे भी 'नाटक' का सम्बन्ध नटो के अभिनय से रहता है, शायद इसलिये 'नाटक' शब्द 'रूपक' के अर्थ मे प्रचलित होगया। नाटक को मूल मानव जाति की अनुकरण प्रवृत्ति मे है। अनुकरण में मनुष्य को बडा आनद आता है। कई बार हम लोगो को कहते हुये सुनते है कि वह मारे आनन्द के नाच उठा। 'आनन्द' और 'नाच' का घनिष्ट सम्बन्ध इस जनश्रुति से स्पष्ट हो जाता है और हमें नाटक का मूल जानने में सहायता देता है।

अनुकरण द्वारा मनुष्य अपने आनन्द की अभिव्यक्ति करता है तभी नाटक की उत्पत्ति होती है। प्राचीन भारत में इसका सम्बन्ध कुछ विद्वान धार्मिक कृत्यो से बताते है, तो कुछ सामाजिक कृत्यों से। विदेशी विद्वान इसका मूल वीर-पूजा की भावनामें, ऋतु सम्बन्धी उत्सवो मे तथा कठ पुतली के नाच मे ढूढते है। कुछ भी हो, भारत वर्ष एक धर्मप्राण देश है; अत हम सोचते है कि नाटको का उदय हमे धार्मिक कृत्यो में देखना चाहिये और यह अधिक युक्ति संगत भी है।

भारतीय नाटको के मूल तत्व हमें वेदो मे मिलते है। ससार के साहित्य में वेद सबसे प्राचीन है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व पाणिनी ने अपने सूत्रो में कृशाश्व और शिलार्लिन नामके दो नट सूत्रकारो का उल्लेख किया है। पातंजलि महाभाष्य में कसवध और बलिबध नाटको की चर्चा है। प्राचीन बौद्धग्रन्थ विनयपिटक में भी नाटक, रगशाला और नर्तकियो का उल्लेख मिलता है तथा हरिवशपुराण में कौवेर रभाभिसार नाटक के खेले जाने का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण में भी नाटक शब्द आया है। इन सब बातो से भारतीय नाटको की प्राचीनतामें सन्देह नही रह जाता। हजारों

वर्ष पूर्व हमारे यहाँ भगवान शंकर का ताण्डव नृत्य प्रसिद्ध था और श्रीकृष्ण नटराज कहलाते थे। अतः स्पष्ट हो जाता है कि 'नाटक' का विकास भारत में बहुत पहिले हो चुका था।

संस्कृत साहित्य मे अश्वघोष, भास, कालिदास, भवभूति, शूद्रक, हर्ष भट्टनारायण, विशाखदत्त तथा राजशेखर आदि प्रसिद्ध नाटककार हो गये है किन्तु इधर एक हजार वर्ष के हिन्दी के इतिहास मे नाटक के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं हुआ। इसके निम्नांकित कारण थे—

१ हिन्दू जाति की गुलामी के कारण उसमें नाटकों के लिये उमंग और उल्लास के लिये जगह नहीं थी।

२ समय समय पर मुसलमानों द्वारा अपमानित होने के कारण हिन्दू जाति ने अपना जातीय उत्साह भी खो दिया था।

३ नाटकों से इस्लाम संस्कृति का धार्मिक वैर था।

४ १९ वीं सदी के पूर्वतक हिन्दी में गद्य की उचित प्रतिष्ठा भी नहीं हुई थी।

इन सब कारणों से हम देखते है कि हिन्दी मे नाटकों का इतिहास बहुत नया है। भारतेन्दुजीने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख किया है कि उनके पहिले सच्चे अर्थों में नाटक थे ही नहीं। उनके पिता का 'नहुष' नाटक था किन्तु वह भी ब्रजभाषा मे। उनके पहिले जो नाटक लिखे गये थे उनमे प्रायः अनुवादों की संख्या अधिक थी। वे सब ब्रजभाषा में लिखे गये थे। उनमे काव्य की प्रधानता थी और नाट्यशास्त्र के नियमों की हत्या की गई थी। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि हिन्दी के प्रथम नाटकाचार्य भारतेन्दुबाबू ही थे जिन्होने लगभग अठारह नाटक लिखे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है "भारतेन्दु" के पहिले 'नाटक' के नाम से जो दो चार ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखे गये थे उनमें महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को छोड़कर और किसी मे नाटकत्व नहीं था। भारतेन्दु बाबू की मित्र मण्डली ने भी नाटक के क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है। पं बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवासदास, बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' पं. प्रतापनारायण

मिश्र. राधाचरण गोस्वामी तथा राधाकृष्णदास आदि सज्जनो ने भारतेन्दुजी काही अनुकरण किया। इसके बाद हिन्दी मे मौलिक नाटक लेखन की परम्परा बन्द सी हो जाती है। इस समय हिन्दीपर बंगला और अंग्रेजी का प्रभाव पड रहा था। फल स्वरूप बाबू रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी और रूपनारायण पाण्डेय ने बंगला नाटको का तथा पुरोहित गोपीनाथ एम्. ए. ने अंग्रेजी और लाला सीताराम बी ए. तथा कविरत्न सत्यनारायण ने कुछ संकृत नाटको का अनुवाद किया।

आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटकार "प्रसाद" जी है। उन्होंने कुल मिलाकर ग्यारह नाटक लिखे है। उनका पहिला नाटक 'सज्जन' और अन्तिम 'ध्रुव स्वामिनी' है। प्रसादजी के पूर्व नाटकों में आदर्शवादिता अधिक थी, बाद के नाटको मे अन्तर्द्वन्द्व अधिक देखने को मिलता है। प्रसादजी के नाटको की कुछ विशेषताएँ यो है।

१ प्रसादजी नियतिवादी है। इसका प्रभाव अनेक पात्रोपर पडा है।

२ प्रसादजी दार्शनिक है। उनके साधारण पात्र भी कभी कभी दार्शनिक की तरह बोलने लगते ह।

३ पात्रो की भाषा अपरिवर्तनीय है।

४ प्रसादजी के नाटको मे 'स्वगत—योजना' के भी दर्शन होते है।

५ प्रसादजीने अपने नाटको में मृत्यु, वध और हत्या आदि निषेध दृश्य भी बताये है।

६ प्रसादजी गंभीर प्रकृति के आदमी थे अतः उनके नाटको मे 'हास्य' बहुत कम है।

७ उनके नाटक देशप्रेम की भावनाओ से ओतप्रोत है।

८ उनके नाटको मे अभिनय की दृष्टिसे कमी रहने पर भी उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्व बहुत अधिक है।

९ उनके नाटको का आधार सांस्कृतिक है और उनके दृश्य विधान तथा पात्रो के नाम भी देशकाल के अनुकूल है।

१० उनके नाटको मे बौद्ध और आर्य दर्शन का संघर्ष है तथा उनकी सुखान्त भावना भी प्राय. वैराग्य पूर्ण शान्ति है।

११ उनके नाटकों में वीर और श्रृंगार इन दो रसों की प्रधानता है। प्रसादजी की शैली भावनात्मक है।

प्रसादजी के वाद प लक्ष्मीनारायण मिश्र, से० गोविन्ददासजी, गोविन्दवल्लभपंत, हरिकृष्ण 'प्रेमी' और उदयशंकर भट्ट आदि हमारे श्रेष्ठ नाटककारों का नाम आता है। हमारे वर्तमान नाटककारोंपर पाश्चात्य नाटककार इब्सन, वर्नार्डशा और गाल्सवर्दी का विशेप प्रभाव पडा है। बाबू गुलाबराय एम्. ए लिखते हैं -

१ नाटकों का विषय ऐतिहासिक न रहकर वर्तमान समाज और उसकी समस्याएँ हो गया।
२ नाटक का विषय अभिजात वर्ग मे ही सीमित न रहा।
३ नाटकों में व्यक्ति के द्वेष की अपेक्षा सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह अधिक दिखाया जाने लगा।
४ वाह्यसंघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता मिली।
५ 'स्वगत कथन' आदि कम होगये और नाटक स्वाभाविकता की ओर अधिक बढा है।

बाबू शिखरचन्द जैन के अनुसार मिश्रजीने हिन्दी साहित्य में सबसे पहिले पाश्चात्य प्रणाली न केवल बाह्य या टेकनिक सम्बन्धी किन्तु आन्तरिक चरित्र चित्रण सम्बन्धी एवं अन्य समस्याओं, जीवन की विषमताओं, भारतीय जीवन मे उठनेवाली सामाजिक और साहित्यिक क्रान्तियों को भी आधुनिकतम रूपमें रक्खा है। मिश्रजी के प्राय सभी नाटक नारीसमस्या-मूलक है। उनमे निम्नश्रेणी के पात्रों का अभाव है। उनके सब पात्र प्राय जमींदार, धनवान तथा प्रोफेसर है। मिश्रजी की नारियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जासकता है। एक तो वे जो सामाजिक रूढियों एवं अत्याचारों के कारण दुखी है। इनमे किरणमयी (संन्यासी), मनोरमा (सिन्दूर की होली), दुर्गा (राक्षस का मन्दिर) और चम्पा (राजयोग) इसी श्रेणी में आती है। दूसरी वे जो पाश्चात्य अथवा आधुनिक शिक्षा एवं वातावरण की उपज है। इनमे अश्गरी एवं ललिता (राक्षस का मन्दिर), आशादेवी (मुक्ति का रहस्य), चन्द्रकला (सिन्दूर की होली), मायावती (आधीरात) और मालती (संन्यासी) है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसाद और 'प्रेमी' जी को श्रेष्ठ नाटककार मानतेहुए लिखा है कि इन दोनो ने रसविधान और शील वैचित्र्य दोनों का सुन्दर सामजस्य किया है। दोनो की दृष्टि ऐतिहासिककाल की ओर रही है। प्रसादजी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दूकाल के भीतर चुना और प्रेमीजी ने मुस्लिम काल के भीतर। प्रसाद के नाटको मे 'स्कन्दगुप्त' श्रेष्ठ है और प्रेमी के नाटकों मे 'रक्षाबन्धन'। 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथनोपकथन से अधिक नाटकोपयुक्त है। प्रतिशोध और शिवासाधना उनके अन्य सुन्दर नाटक है।

प० उदयशंकर भट्टने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक नाटक लिखे है किन्तु भट्टजी के पौराणिक नाटक अधिक सुन्दर है। गोविंदवल्लभपत ने भी राजमुकुट, अगूर की वेटी, वरमाला और अन्त पुर के छिद्र लिखकर नाटक के क्षेत्र में अच्छा काम किया है। सेठ गोविंददासजी मध्यप्रान्त के तेजस्वी और त्यागी राष्ट्रीय कार्यकर्ता है किन्तु नाटक के क्षेत्र मे भी वे एक जागृत शक्ति है। जन साधारण से सम्बन्ध रखनेवाले कथानको पर लिखनेवालो मे गोविंददासजी का ऊँचा स्थान है। स्वाभाविकता और स्पष्टता उनकी अपनी विशेषता है। आप यथार्थवादी कलाकार है। पूर्व और पश्चिम के नाट्यशास्त्र का आपने अच्छा अध्ययन किया है। कर्तव्य प्रकाश और हर्ष उनके सुन्दर नाटक है। श्री. रामेश्वर गुप्त 'कुमार हृदय' ने भी निशीथ, सरदारबा और भग्नावशेष आदि अभिनय योग्य ऐतिहासिक नाटक लिखे है।

रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, सुमित्रानन्दन पत और जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' आदि कवियोने तथा प्रेमचन्द सुदर्शन, उग्रजी, चतुरसेन शास्त्री और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि कथाकारोंने भी नाटक के क्षेत्र मे अपनी कलम का कमाल दिखाया है।

पारसी नाटक कम्पनियो के लिये लिखनेवालो में प नारायणप्रसाद 'बेताब', राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण जौहर तथा आगाहश्र का नाम प्रसिद्ध है। प्रो. सत्येन्द्र एम. ए ने भी नाटक लिखे है। श्री. जी. पी. श्रीवास्तव ने मोलियर के फ्रेंच नाटको का अनुवाद किया तथा हास्यरस के प्रहसन लिखे। पं. भगवतीप्रसाद वाजपेयीने भी 'छलना' नामक भाववृत्तियों का कलापूर्ण नाटक लिखा है।

इधर एकांकी नाटक भी जोरो से लिखे जा रहे हैं। इस क्षेत्र में सेठ गोविंददासजी, उदयशंकर भट्ट, प्रो. रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, उग्रजी तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अपना ऊँचा स्थान रखते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर, पृथ्वीनाथ शर्मा, जनार्दनराय और पं सद्गुरुशरण अवस्थीने भी अच्छे एकांकी लिखे हैं। प्रो सत्येन्द्र एम. ए लिखते हैं– रामकुमार वर्मा मे अन्यतत्वों के साथ काव्यविशेष मिलता है, अश्क मे संस्कृति संघर्ष, उदयशंकर भट्ट मे नाटकीयता, भुवनेश्वर मिश्र मे बौद्धिकता, पृथ्वीनाथ में सौष्ठव, उग्र मे शक्ति और माथुर में भावोन्माद मिलता है।

हिन्दी मे गीति नाटच (पद्यबद्ध नाटक) भी लिखे गये हैं। 'प्रसाद' का करुणालय, मैथिलीशरणजी गुप्त का अनघ और उदयशंकर भट्ट के मत्स्यगंधा और विश्वामित्र सुन्दर गीतिनाटच हैं। 'गीतिनाटच' सर्वथा कविताबद्ध होता है किन्तु 'भावनाटच' का माध्यम गद्य होता है। गोविंदवल्लभपंत का 'वरमाला' तथा उदयशंकर भट्ट का 'अवा' भावनाटच के उदाहरण हैं। सिनेमा की अधिकता और हिन्दी रंगमंच की कमी के कारण हिन्दी नाटकों को कुछ धक्का अवश्य लगा है किन्तु यह कहना कि राष्ट्रभाषा हिन्दी मे नाटको का अभाव है, समीचीन नही जान पड़ता। जब नाटकों की संख्या बढने लगी तब नाटचशास्त्र पर भी सुन्दर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। भारतेन्दु का 'नाटक' आचार्य द्विवेदीजी का नाटचशास्त्र, श्यामसुन्दरदास का रूपकरहस्य, ब्रजरत्नदास का हिन्दी नाटचसाहित्य, शिखरचन्द जैन का हिन्दी नाटचचिन्तन और गुलाबराय का हिन्दी नाटच विमर्ष सुन्दर ग्रन्थ हैं। बाबू ब्रजरत्नदास तथा गुलाबरायजी का प्रयत्न संग्रहात्मक एवं परिचयात्मक अधिक है और शिखरचन्दजी का आलोचनात्मक। प्राध्यापक नगेन्द्र के 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में हमे पाण्डित्य और प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

# हिन्दी का 'गद्यकाव्य' साहित्य

कहानी, उपन्यास तथा गद्य-काव्य, गद्य-साहित्य के अंग माने जाते है। कहानी और उपन्यास प्राय घटना एवं वर्णन-प्रधान होते है किन्तु गद्य-काव्य भावना-प्रधान। गद्य-काव्य मे भावना और अनुभूति की प्रखरता तथा भाषा की प्रौढता विशेष रूप से आवश्यक है। जब अनुभूति का प्रवाह अत्यंत तीव्र होता है तो उसे कविता द्वारा व्यक्त करना थोड़ा कठिन हो जाता है। जब हार्दिक भावनाएँ सिनेमा के चलचित्रो की भाँति गतिमय हो उठती है तो गद्य-काव्य ही उनके व्यक्त करने का सर्वोत्तम साधन है। श्री० गुलाबराय एम. ए. गद्य-काव्य को भावात्मक निबन्ध मानते है। वास्तव मे मनुष्य जब बाह्य परिस्थितियो की चोट खाकर अपने को भूला हुआ-सा अनुभव करता है तब उसके अन्तर्जगत् मे घनीभूत भावनाओं का मथन होता है और वे कवित्वमय गद्य मे बहने लगती है। ऐसी स्थिति मे मे अनुभूति की सचाई से दूर नही रह सकती और यह आत्माभिव्यंजन ही 'गद्य-काव्य' है।

संस्कृत मे बाणकवि का कादम्बरी तथा दण्डी का कुछ गद्य-काव्य मिलता है, इसीलिये भारतीय विद्वान् अंग्रेजी और बगला को हिन्दी मे गद्य-काव्य का स्वरूप निर्धारित करनेका श्रेय तो देते है किन्तु जन्म देने का नही। यूरोपीय साहित्य मे इंग्लैंड के महाकवि वर्डस्वर्थ और अमेरिका के वाल्टव्हिटमैनने प्रथम गद्य-काव्य लेखक माने जाते है। बँगला का भाव-प्रधान उपन्यास 'उद्भ्रान्त प्रेम' अपने मे गद्य-काव्य-कला के गुण रखता है। इसमें श्री चन्द्रशेखर मुखोपाध्याय ने अपनी प्रियतमा के असमय परलोक-गमन के कारण अपनी शोकाग्नि की चिनगारियाँ बिखेर दी है। इसके बाद श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताजलि पर जब नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ तो भारतीय युवक अत्यधिक प्रभावित हुए।

हिन्दी के विद्वान् लेखक भारतेन्दुजी से ही गद्यकाव्य का कार्यारम्भ मानते है, ठीक उसी प्रकार जैसे कहानी, उपन्यास, खडी बोली की कविता और नाटक का। उदाहरण स्वरूप चन्द्रावली नाटिका का कुछ गद्य-भाग सामने रख देते है। लगे हाथो प. बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, प. गोविन्दनारायण मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह आदि को भी गद्यकाव्य लेखक मान लेते है। वास्तव मे वे गद्य-लेखक ही थे, गद्यकाव्य लेखक नही। वहाँ मस्तिष्क और हृदय की एकरसता नही दिखाई देती जो गद्य-काव्य का एक प्रधान तत्व है। गद्य-काव्य का प्रारम्भिक-रूप हम प. बालकृष्ण भट्ट के 'चन्द्रोदय' में देखते है। यह भी गद्य-काव्य के इतिहास की सम्बन्ध-परम्परा निश्चित करने के लिए, अन्यथा 'चन्द्रोदय' में आधुनिक गद्य-काव्य के गुण नही है। श्री जयशकरप्रसाद तथा चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की भाषा सस्कृत-गर्भित होने के कारण कुछ लोगो ने उसमें गद्य-काव्य के लालित्य की रक्षा मानी है किन्तु इन लेखको का लक्ष्य गद्य-काव्य निर्माण करना नही था, भाषाशैली की विशेषता के कारण वह अनायास निर्मित हो गया।

उपर्युक्त विवरण को हम गद्य-काव्य का विकास या इतिहास कुछ भी समझें किन्तु यह सर्वसम्मत है कि हिन्दी-साहित्य मे गद्य-काव्य का सर्वश्रेष्ठ नमूना श्री रायकृष्णदास ने 'साधना' लिखकर उपस्थित किया। इसके बाद वियोगीहरि और चतुरसेन शास्त्री के प्रयत्न प्रगट हुए। श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने बाबू रायकृष्णदास के सम्बन्ध मे लिखा है— परोक्षसत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है उसकी व्यजना इन्होने बडी मार्मिक प्रणाली से की है। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होने विशेष आधार रक्खा है। भावनाओ की गम्भीरता के साथ-साथ इनकी भाषा में बडा सयम पाया जाता है। वियोगीहरि की अधिकाश भाव-व्यजना दुरूह, सस्कृत तत्समता लिए हुये समासात पदावली में हुई है। उर्दू के तत्सम शब्दो का प्रयोग भी किया है। श्री चतुरसेन शास्त्रीने चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषामे भावाभिव्यजना की है। शास्त्रीजीने स्थान स्थानपर विभक्तियो को भी छोड दिया है। इनकी रचनामें धारा वाहिकता भी अच्छी मिलती है।

रायकृष्णदासजी के 'प्रवाल' और 'छायापथ' वियोगी हरि की 'भावना' और 'अन्तर्नाद' उल्लेखनीय हैं।

इधर गद्यकाव्य-कला की शक्ति के अत्यधिक दर्शन शुभ श्री. दिनेशनन्दिनी चोरडिया में हुये हैं। उनके गुरुसन्देश, शबनम, मौक्तिक माल और शारदीया प्रसिद्ध गद्यकाव्य सग्रह हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि विषय की गहनता, गम्भीरता चाहे आपके विशेष गुण न हो, पर शैली तथा भाषा सौन्दर्य मे आप हिन्दी मे अद्वितीय हैं।

निम्नाकित 'गद्यकाव्य' का उदाहरण दिनेशनन्दिनी के 'मौक्तिकमाल' से लिया गया है। इसमे जीवन का कठोरसत्य हृदय सरोवर से बह निकला है—

'दिनेश कौन थी ?'
— ससार के पुराने पडने पर कोई पूछ बैठे!
विधना के विधान ठीक उतरेगे,
शताब्दियाँ सौम्यसौन्दर्य से इठलाती हुई आवेगी और निकल जायेगी!
एवम्
अनन्त यौवन, मुक्त प्रौढ और जीर्ण जरा झेपकर चली जायगी;
परन्तु,
दिव्य प्रेम की परिमल किरण ससार की छिन्न छाती को सुनहले रग से रागमयी करेगी!
तब
ससार के पुराने पडनेपर कोई पूछ बैठे
दिनेश कौन थी ?

प० माखनलालजी चतुर्वेदी ने भी 'साहित्यदेवता' नामक गद्य-काव्य लिख रक्खा है जिसके प्रकाशित होनेपर गद्यकाव्य साहित्य को एक नई चीज मिलेगी। श्री तेजनारायण 'काक' और शान्तिप्रसाद वर्मा ने भी इस दिशा मे अच्छा प्रयत्न किया है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'रेखाचित्र', भवरमल सिंघी का 'वेदना', रामकृष्ण 'भारती' का निर्झर, रामप्रसाद विद्यार्थी का पूजा और शुभ्रा, श्रीमती तापाण्डे का 'रेखाएँ', रामेश्वरी देवी

गोयल का 'जीवन का सपना', रामवृक्ष बेनीपुरी का 'लाल तारा' और प्राध्यापक रामकुमार वर्मा का 'हिमहास' सुन्दर 'गद्यकाव्य' के नमूने हैं। 'रेखाचित्र' भावरजित होते हुये भी वर्णनात्मक अधिक है। डॉ० रघुवीरसिंह ने भी सप्तदीप और शेषस्मृतियाँ लिखकर ऐतिहासिक गद्यकाव्य के क्षेत्र मे एक नया कदम बढाया। अब तो हिन्दी के गद्य-साहित्य में 'गद्यकाव्य' ने अपना विशिष्ठ स्थान बनालिया है। बुलबुलमित्रा एम. ए. ने भी गद्यकाव्य लिखना शुरू कर दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतसे हम सहमत हैं कि गद्यसाहित्य मे भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेष स्थान है किन्तु जहाँ गभीर विचार और चिंतन के गूढ विषयो मे व्यापक दृष्टि अपेक्षित है वहाँ भी इस कलात्मक प्रणाली की क्रीडा दिखाना उचित नही कहा जासकता। कुछ ऐसाही मत आचार्य श्यामसुन्दरदास का भी है— "ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र रमणीयता का क्षेत्र नही बनाया जासकता। जो विषय शास्त्रीय बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं उन्हे रमणीय बनाने का प्रयास विशेष रूपसे कृत्रिमसा होजाता है।" इधर पत, प्रसाद तथा महादेवी की आलोचना करते समय कुछ आलोचक ऐसे बहके हैं कि उनकी आलोचना मे विद्यार्थियो को शब्दाडम्बर के सिवा कुछ भी तथ्य की बात नही मिलती। हिन्दी के पाठको पर झूठी धाक जमाने की परम्परा अब बन्द होजानी चाहिये।

## 'प्रिय-प्रवास' की भाषा और 'हरिऔध' की साहित्यसेवा

'हरिऔध' जी का प्रिय-प्रवास कई विश्वविद्यालयो तथा साहित्य सम्मेलन की 'उत्तमा' परीक्षा के पाठ्यक्रम मे रक्खा गया है अत. इस ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में अत्यधिक चर्चा होना स्वाभाविक है। प्रायः अधिकतर विद्वानो ने प्रियप्रवास की भाषा को कृत्रिम माना है। यही कारण है कि उनके विचारो की प्रतिक्रिया स्वरूप यह बात चर्चा का विषय बनगई। अपने महाकाव्य की भूमिका मे स्वय हरिऔधजी सस्कृत गर्भित भाषा के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क करते है

(१) मानस, विनय पत्रिका तथा रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थो की उपयोगिता सस्कृतमयता के कारण नष्ट नही हुई तो प्रियप्रवास की ही क्यो होगी ?

(२) वर्णिक वृत्तो के लिये सस्कृत गर्भित भाषाही आवश्यक है।

(३) सस्कृतमय शैली की ओर लेखक के हृदय का झुकाव है।

(४) सस्कृत सारे भारत की धार्मिक भाषा है अत भारतवर्ष के अन्य प्रान्तो मे संस्कृत बहुला हिन्दी का ही आदर होगा।

(५) हिन्दी प्रान्तो मे 'उपभाषा' का परिचय दिलानेके लिये 'प्रियप्रवास' की सस्कृतमय भाषाशैली आवश्यक है।

प्रियप्रवास की भाषा का विरोध करते हुए प्राध्यापक सत्येन्द्र एम. ए. ने निम्नाकित मत प्रगट किया—

(१) भाषा की दृष्टि से प्रियप्रवास कभी श्लाघनीय नही। उसमें भाषा क्षत विक्षत, अविन्यस्त और भानुमतीके कुनबे की तरह है। ठीक ही हुआ कि इसका अनुकरण हिन्दी मे न हुआ।

(२) उपाध्यायजी मे 'चयनशक्ति' बिलकुल नही। एक पृष्ठ मे ही एक से अर्थवाले शब्द और उनके पर्यायो की भरमार मिलती है। यह कवि की कला-शिथिलता व्यक्त करती है।

श्री. सत्येन्द्रजी के मत प्रकाशन के कुछ दिन बाद ही प अनूप शर्मा का सिद्धार्थ प्रकाशित हुआ और उनकी भविष्यवाणी की सचाई मे अपवाद की एक रेखा खिचगई। विद्वानो ने स्वीकार किया कि 'सिद्धार्थ' की भाषा 'प्रियप्रवास' की भाषाशैली का अनुकरण करती है किन्तु उतनी सरस नही बनसकी। 'प्रियप्रवास' की भाषा कैसी है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस काव्य की लोकप्रियता ही बतारही है। रद्दी से रद्दी भाषाशैली भी प्रतिभाशाली कलाकार के हाथो मे सुन्दर बनसकती है, इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता।

प्राध्यापक धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी एम. ए. ने 'प्रियप्रवास' की भाषा को कृत्रिम बताते हुये 'हरिऔध' जी के तर्को का उत्तर दिया है।

(१) मानस और विनयपत्रिका में संस्कृत के छन्द नही है और भाषा भी इन काव्यो की टकसाली और चलती हुई। यहां ब्रह्मचारीजी ने विनयपत्रिका की संस्कृतमयता की चर्चा नही की और रामचन्द्रिका की बात को स्पर्श भी नही किया।

(२) संस्कृत वृत्तो के लिये संस्कृतमय पदावली की आवश्यकता को ब्रह्मचारीजी ने कोई 'समाधान' नही माना और इस तर्क को चक्रक-दोष से दूषित माना है। जिन दिनो प्रियप्रवास लिखा गया था उस समय को देखते हुये हरिऔधजी के तर्क पर चक्रकदोष का लादना, सहृदयता कभी स्वीकार न करेगी। वास्तव मे वर्णिक वृत्तो के लिये संस्कृतमय पदावली अनिवार्य नही किन्तु उपादेय अवश्य है।

(३) कवि की 'रुचिविशेष' पर ब्रह्मचारीजी तर्क करना नहीं चाहते। वास्तव मे कवि के लिये रुचिविशेष की परितृप्ति क्या महत्व रखती है, यह तो कोई कविहृदय-आलोचक ही बता सकेगा।

(४) हरिऔधजी के चौथे तर्क के सम्बन्ध मे ब्रह्मचारीजी ने केवल तर्क के लिये तर्क किया है। वे लिखते हैं कि जिसे हिन्दी मे संस्कृत का मजा लेना इष्ट होगा वह संस्कृत ही क्यो न पढ लेगा। बात ठीक है, किन्तु हरिऔधजी का दृष्टिकोण तो यह है कि संस्कृत जाननेवाले 'प्रियप्रवास' की भाषाशैली को सरलता से समझ सकेंगे या उन्हे इस काव्य के समझने में सुविधा होगी।

(५) हरिऔधजी के अन्तिम तर्क को भी ब्रह्मचारीजी ने 'दुराशा' समझा है। वे लिखते हैं

कहाँ तो आज प्रेमचन्द जैसे महारथियो के सामने यह सवाल था कि किसप्रकार हमारी खडीहिन्दी प्रेम से झुककर दीन-हीन मजदूरो, अबोध किसानो और अज्ञानान्धकार मे पडी सामान्य जनता तक को अपनी अमृतमयी भेट देसके, और कहाँ यह अभिलाषा कि जो पहिलेसे ही खडीहिन्दी है, उसके जूते मे 'ऊँची एडी' लगाकर उसे जनसाधारण की पहुँच के बाहर बना दिया जाय। वास्तव मे ब्रह्मचारीजी के इस तर्क मे ठोसपन का अभाव होने के कारण कोई अकाट्यता नही है। एकबार एक उर्दू शिक्षक, जिन्होने प्रेमचन्दजी की कहानियाँ पढी थी, कहने लगे कि हिन्दी मे उच्च साहित्य क्या है, वह तो बच्चो की भाषा है। मैंने झटसे उन्हे 'पन्त'जी की ज्योत्स्ना पढने को दी। एक दो पृष्ठ पढकर वे चकरा गये और कहने लगे कि हमतो यह नही समझ सकते। आपही समझाइये। वास्तव मे 'प्रियप्रवास' की रचना प्रायमरी स्कूल के बच्चो के लिये नही हुई, वह तो बी. ए. और 'उत्तमा' परीक्षा में सम्मिलित होनेवालो के लिये हुई है, यह ब्रह्मचारीजी कैसे भूल गये। अपने तर्क मे मजदूरो, किसानो और अज्ञानी जनता का प्रश्न उठाकर तो उन्होने अपनी कमजोरी छिपाकर इन भावभरे शब्दो के बलपर लचर तर्क को शक्ति देने का निष्फल प्रयत्न किया है। फिर प्रियप्रवास मे सैंकडो छन्द प्रवाहमयी सरल भाषा के भी तो है। यथा— "वह परम छबीले लाडिले नन्दजी के।" कवि की संस्कृतगर्भित भाषा म भी कितना प्रवाह है यह निम्नाकित छन्द से स्पष्ट होता है और साथही

अन्य कवियो में मानो हरिऔध की श्रेष्ठता की ओर संकेत भी करता है। हमें तो इसमें कही प्रसाद का अवसाद नजर नही आया।

> सद्भावाश्रयता अचिन्त्य दृढता निर्भीकता उच्चता।
> नाना कौशल मूलता अटलता न्यारी क्षमाशीलता।
> होता था यह ज्ञात देख उसको शास्तासमा भंगिमा।
> मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भू भाग का॥

'वैदेही वनवास' को कुछ लोग 'प्रियप्रवास' की संस्कृतगर्भित शैली का क्रियात्मक प्रतिरोध मानते है किन्तु वास्तव मे हरिऔधजी ने साहित्यसम्राट तुलसीदास की तरह भिन्न शैलियो मे लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय ही दिया है। वर्तमान हिन्दी कवियो मे जितना अधिकार भिन्न-भाषाशैलियो पर हरिऔध का है उतना दूसरो का नही दीख पडता। हिन्दी संसार के इस सबसे बूढे कवि को हमें ठीक ढंग से समझना चाहिये। 'प्रियप्रवास' की भाषा पर की हुई कडी आलोचनाएँ आजभी पन्द्रह वर्ष पहिले की फाइलो में सड रही है और प्रियप्रवास ?

श्री 'हरिऔध' जी बीसवी शताब्दी के उन साहित्य-सेवियो मे से है जिन्होने एक अर्ध शताब्दी साहित्य-सेवा मे व्यतीत कर दी हो। इस दृष्टि से श्रद्धास्पद आचार्य द्विवेदीजी के पश्चात् शायद 'हरिऔध' जी का ही नाम लिया जायगा। डॉ हेमचन्द्र जोशी के मतानुसार वर्तमान हिन्दी कवियो मे आपका स्थान सर्वोच्च है और आप वास्तव में कवि सम्राट है।

श्री सनेहीजी का मत है कि हरिऔधजी ही ऐसे कवि है जो मध्य युगीन कवियो से आधुनिक कवियो का रिश्ता जोडते है। अभिप्राय यह है कि आपने मध्ययुग का अन्तिम समय और वर्तमान काल अपनी आँखो से देखा है। आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल का कथन है कि आज कल हिन्दी के जिन लब्ध प्रतिष्ठित पुराने कवियो को हम काव्य के आधुनिक मार्ग पर पाते है उनमे से कई एक उस पुरानी परिपाटी पर अत्यन्त रसमयी रचना कर चुके है। ऐसे कवियो में आधुनिक काव्यक्षेत्र के महारथी 'हरिऔध' जी प्रमुख है। हरिऔध जी न तो प्राचीनता का विनाश चाहते है और न अर्वाचीन का बहिष्कार। उनकी दृष्टि सदा से समन्वय

की ओर रही है। हरिऔधजी हमारे कवियो मे मुख्य आचार्य तथा आचार्यों मे एक अनूठे कवि है।" वस्तुत आचार्य और कवि का इतना सुन्दर एव शक्तिशाली सम्मिलन रीतिकाल के केशवदास के पश्चात् 'हरिऔध' जी मे ही दिखाई देता है। श्रीनाथ पाडे कहते है कि उपाध्यायजी हिन्दी जगत के एक सर्व श्रेष्ठ कवि ही नही तथा एक कुशल और श्रेष्ठ गद्य लेखक भी है। उनके विषय प्रतिपादन का ढग आकर्षक, कमनीय, और हृदयविमोहक होते हुए भी तर्क वितर्क से खाली नही है। न तो उनकी शैली मे तार्किको की कर्कशता ही है और न कवियो की वह काल्पनिक उडान ही जो मजाक की सीमा तक पहुँच जाती है, वरन् आपकी शैली मे दोनो का सुन्दर सामञ्जस्य मिलता है। उपाध्यायजी आदर्शवादी होते हुए भी 'डीटो' नही है। मनुष्य की त्रुटियो तथा कुप्रवृत्तियो का जैसा अनुभव उपाध्यायजी को है वे उस पर पर्दा डालना बड़ा भारी पाप समझते है।

वात्सल्य रस को 'रस साहित्य' मे स्थान दिलाने के लिए हरिऔध जी ने प्रबल एव पाण्डित्यपूर्ण प्रयत्न किया। उन्होने स्वय लिखा है कि 'काव्य प्रकाश' कार ने रस के जो लक्षण वतलाये है उनपर वात्सल्य रस को कसने पर वह पूरा उतरता है। वैसे भी वात्सल्यरस और रसो की अपेक्षा अधिक व्यापक और स्पष्ट है जिनकी गणना 'नव रसो' में है। वात्सल्यरस से जीवजन्तु भी रहित नही है। यदि वनस्पति सबधी आविष्कार सत्य है, और उनमेभी स्त्री-पुरुष मौजूद है, तो वत्स और वात्सल्य भाव से वे भी वचित नही। आज वात्सल्यरस को रस न मानने का साहस करना कठिन हो गया है। वस्तुत हरिऔधजी को अपने प्रयत्न में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिल गई है।

'हरिऔध' जी ने जिस शैली में, जिस भाषा मे और जिस विषय पर लिखा है वह कठोर साधना के पश्चात् लिखा है इसीलिए वह सुदर है। सीधी साधी ग्रामीण ठेठ हिन्दी का नमूना हम उन के 'अधखिला फूल' और 'ठेठहिन्दी का ठाठ' मे देखते है। वेनिस का बाँका उनकी संस्कृतमय क्लिष्ट गद्यरचना का नमूना है। सरस सुन्दर अनुभूतियुक्त पदो का तथा साधारण बोलचाल की भाषा के दर्शन

हम उनके 'चुभते चौपदे' तथा 'चोखे चौपदे' मे कर सकते है। सरल साहित्यक खडीबोली तथा सस्कृत गर्भित परिष्कृत खडी बोली, अद्भुत कवित्व और विपुल शब्दसमूह उनके 'प्रियप्रवास' मे देखा जा सकता है। परिमार्जित व्रजभाषा, काव्यरस का आनन्द, प्रकाण्ड आचार्यत्व और पद पदपर नवीनता उनके 'रसकलस' मे देखिये। 'बोलचाल' हिन्दी मुहावरो का एक अभूतपूर्व पद्य-बद्ध कोप ग्रन्थ है जिसमे कूटकूटकर जीवन का अनुभव एव उपदेशप्रद बाते भरी है। 'वैदेही वनवास' रामकाव्य पर एक महाकाव्य है तथा 'पारिजात' भिन्नविषयक कविताओका विशाल सग्रह। हरिऔधजीने 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नामके दो नाटक भी लिखे थे किन्तु इस क्षेत्र मे उन्हे विशेप सफलता नही मिली। कबीर वचनावली की भूमिका तथा पटना विश्वविद्यालय मे हिन्दी भाषा और उसके साहित्यपर दिये गये विशालकाय भाषण उनको श्रेष्ठ आलोचक सिद्ध करते है। वर्तमान साहित्यकारो मे भाषा और शैलियोपर इतनी अधिकारपूर्ण विभिन्नता रखनेवाला 'हरिऔध' जी को छोडकर शायद ही कोई हो। पवित्रपर्व और कल्पलता आदि 'हरिऔध' जी के कई कविता संग्रह निकल चुके है।

हिन्दी ससार ने हरिऔधजी का सम्मान भी किया—अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके, उनकी रचनाओ को उच्चातिउच्च परीक्षाओ के पाठ्यक्रम मे स्थान देकर, मगलाप्रसाद पारितोषिक देकर तथा अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाकर लेकिन हरिऔधजी की महान सेवाओ के आगे यह सब नही के बराबर है। इसमे सन्देह के लिये गुजाइश नही है कि बीसवी शताब्दी के साहित्यसेवियो मे श्री; अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' अपना अत्यत ऊचा स्थान रखते है।

## राजस्थान की भाषा और उसका वीर साहित्य

राजस्थानी, राजस्थान और मालवा प्रान्तकी भाषा है। उसकी ५ मुख्य शाखाएँ है–

(१) मारवाडी–इसका साहित्य सबसे अधिक सम्पन्न है। यह पश्चिमी राजस्थान अर्थात् जोधपुर, मेवाड, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटीमे बोली जाती है।

(२) ढूढाडी–इसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान है अर्थात जयपुर, कोटा, बूदी, झालावाड और किसनगढ आदि जिलो मे बोली जाती है। इसमे भी कुछ साहित्य मिलता है।

(३) मेवाती–मेव प्रान्त अर्थात अलवर आदि भागोमें बोली जाती है। इसमे कोई साहित्य नही मिलता।

(४) मालवी–यह मालवा प्रान्तकी बोली है अर्थात् इन्दौर, भोपाल और नेमाड आदि जिलोमें बोली जाती है। इसमे बहुत कम साहित्य है।

(५) भीली–इसे भील आदि पहाडी जातिया बोलती हैं। इसमें गुजराती का भी मेल पाया जाता है।

राजस्थानी बोलनेवालो की सख्या प्राय २ करोड हैं और ये समस्त भारतवर्ष में फैले हुए हैं।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल मे साहित्य की भाषा राजस्थानी थी। स्व० श्री० सूर्यकरण पारिख एम० ए० लिखते है– कबीर का काव्य उस समय की रचना है जब हिन्दी और राजस्थानी को पृथक नही गिना जाता था। एक ही देशभाषा थी, जिसमे उत्तर भारत की जनता अपने भावो को प्रगट करती थी। वही भाषा कबीर की है। कबीर राजस्थानी का कवि है और हिन्दी का भी, कारण उसके समय मे राजस्थानी और

हिन्दी मे कोई भेद नहीं था। जिसे हम आज राजस्थानी भाषा के नाम से पुकारते हैं, वह नाम पीछे से प्रचलित हुआ है। उस समय गुजरात मे अन्तर्वेद (यू० पी०) तक एक ही देशभाषा का प्रचार था। उसे चाहे राजस्थानी हिन्दी कहिये, चाहे पुरानी हिन्दी।

परन्तु मध्यकालमे वह बात न रही। ब्रजभाषाके उत्थान ने राजस्थानी को उसके पदसे हटा दिया और अब राजस्थानी केवल राजस्थान प्रान्त तक सीमित रहकर प्रातीय भाषा बन गई। हिन्दी साहित्यके आदिकालमें पाये जानेवाले प्राय अधिकतर कवि राजस्थानी हैं, जैसे दलपतविजय, नरपतिनाल्ह, चन्दबरदाई, जल्हण और नल्लसिंह भाट आदि। ब्रज-भाषाके इस आकस्मिक उत्थानका श्रेय सूरदास आदि वैष्णव-कवियो की भक्तिभावसे प्रेरित अनरवाणी को है। ब्रजभाषाका प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ने लगा और राजस्थानके कवि भी उसमें काव्यकी रचना करने लगे। अब राजस्थानमे मुख्य दो काव्य-भाषाएँ हो गई—प्राचीन-काव्य भाषा और ब्रजभाषा। ब्रजकी कविता आगे चलकर पिंगल कहलाई और धीरे-धीरे ब्रजभाषा। बोलचालकी राजस्थानी से मिश्रित ब्रजभाषाका नाम पिंगल पड़ गया। डा० हरप्रसाद शास्त्री का मत है कि 'पिंगल' शब्दके साथ तुक मिलानेके लिये प्राचीन काव्यभाषाका नाम 'डिंगल' कर दिया। डा० टैसीटरीने डिंगल को अनियमित और गवारू भाषा माना है। श्री गजराज ओझा ने 'डिंगल' नाम पडने का कारण 'ड' वर्ण की बहुलता बतलाया है। श्री पुरुषोत्तमदास स्वामीने 'डिंगल' को डिम-गल बनाकर डमरु की ध्वनि सिद्ध किया है जो वीरो को उत्साहित करने वाली है। कुछ लोग 'डिंगल' को डिम-गल बनाकर बालको की भाषा सिद्ध करते हैं। श्री मेनारिया एम० ए० कहते हैं कि यह भाषा डीग हाकने के काम मे लाई जाती थी, इसलिये डिंगल नाम पडा। वास्तव में डिंगल की उत्पत्ति पर विद्वानो में बहुत मतभेद है। अकाट्य प्रमाण देकर अभी तक किसी ने कुछ सत्य का निर्णय नही किया।

'डिंगल' भाषा की कुछ विशेषताएँ—

१—'डिंगल' की वर्णमाला मे 'श' और 'ष' नही है। 'ष' का प्रयोग 'ख' के रूप में होता है।

२—'डिंगल' की वर्णमाला मे ङ और ऌ अक्षर नही है।

३—हिन्दी की अपेक्षा डिंगल पर विदेशी भाषाओ का रंग बहुत कम चढा है।

४—डिंगल काव्यमे सबसे अधिक प्रयोग दोहा और छप्पय का हुआ है।

५—डिंगल का साहित्य वीर और श्रृंगार रसकी प्रधानता लिये हुए है।

६—डिंगल के कवियो ने अलंकार के फेरमे पड़कर भावो को भ्रष्ट नही किया।

७—डिंगल कविता मुख्यतया गीतो मे है।

८—छन्दो मे दूहा और छप्पय प्रमुख है।

९—डिंगल कविता की एक विशेषता वैणसगाई अलंकारका प्रयोग है। वैणसगाई एकप्रकार का अनुप्रास होता है। इस के लिये यह आवश्यक है कि छन्द के प्रत्येक चरण मे पहिले शब्द का आरम्भ जिस वर्ण से हो उसके अन्तिम शब्द का आरम्भ भी उसी वर्ण से होना चाहिये।

डिंगल मे गद्य भी लिखा गया है। डिंगल गद्य का एक भेद 'वचनिका' है। वचनिका उस गद्य को कहते है जिसमे वाक्यो की तुक मिलती जाय।

हिन्दी साहित्यके इतिहास-लेखकोने वीर-रसके तीन प्रमुख कवि माने है भूषण, सूदन और लाल। इनमेंसे सूदन कानपुरके जाट राजा सूरजमलके आश्रित थे। राजस्थानी इन्हे अपना मानते है, किन्तु हिन्दीके वीर साहित्यमे इनका विशेष स्थान नही है, क्योकि एक तो काव्य-कलाकी दृष्टिसे ये ऊँचे नही उठे, दूसरे इनकी रचनामे इतिहास-विरुद्ध बाते बहुत है, तीसरे अनुभूतिकी कमी होनेके कारण वस्तुओकी नामावली गिनानेमे इन्होने अपनी शक्ति अधिक खर्च की है। इतना सब होते हुए भी राजस्थानी साहित्यिक इन्हे वीर-रसके कवियोमे ऊँचा स्थान देते है। यह स्वाभाविक भी है, क्योकि हिन्दी-साहित्यके इतिहास-लेखककी अपेक्षा राजस्थानी साहित्यके लेखकका क्षेत्र बहुत छोटा है। हिन्दीके साहित्यिकोने "भूषण" को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। महाकवि चन्दबरदाईको जितना

महत्व राजस्थानी देते है, उससे कम हिन्दी साहित्यके इतिहासकार भी नही देते। बहुतोने चन्दको हिन्दी का आदि कवि माना है किन्तु हिन्दी-ससारमे मतभेद उपस्थित हो गया है कि "पृथ्वीराजरासो" जाली ग्रन्थ है या वास्तवमे चन्द कृत। अत चन्दबरदाईके लिखे हुये वीर-साहित्यकी चर्चा हम यहाँ नही करेगे।

राजस्थानी साहित्यिको का यह आक्षेप है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने राजस्थान के वीर-साहित्य के प्रति न्याय नही किया अन्यथा भूषण को वीररस का सर्वश्रेष्ठ कवि मानने की भूल नही होती। दूसरी बात बीकानेर के वीर कवि पृथ्वीराज, मारवाडके दुरसाजी आढा तथा बूदी के कविराज सूर्यमल्लकी अवहेलना न की जाती। इस आक्षेप में चाहे पूर्ण सत्य न हो किन्तु आक्षेप की भीतरी सचाई से कोई भी विद्वान इनकार नहीं कर सकता। स्वर्गीय विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने लिखा है कि राजस्थान ने अपने रक्त से जो साहित्य निर्माण किया है उसकी जोड़ का साहित्य और कही नही मिलता। प्रसन्नताकी बात है कि स्वर्गीय श्री. सूर्यकरणजी पारिख, ठाकुर रामसिंहजी, श्री नरोत्तमदास स्वामी तथा श्री मोतीरामजी मेनारियाने राजस्थानी साहित्य को प्रकाश मे लाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। वीर रस के श्रेष्ठ कवि भूषण के साथ हम दुरसाजी आढा की तुलना कर सकते है। भूषणने 'शिवराज भूषण' लिखा है और दुरसाजीने महाराणा प्रतापकी प्रशसामे 'विरुद छहत्तरी'। दोनो ही हिंदुत्व के कट्टर पक्षपाती एव देशभक्त कवि थे और दोनो ने अपने समय की पतनाभिमुख हिन्दू जाति का चित्र खीचा है तथा अपने हिन्दूधर्म रक्षक नायको की प्रशसा की है।

राजस्थानी के वीर साहित्य मे वीर वीरागनाओ के हृदयस्थ भावो का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और सौन्दर्यानुभूति का प्रकटीकरण मिलता है, वह भूषण की रचनामें नही है।

एक वीरागना नाइन से कहती है-

नायण आज न मांड पग, काल सुणीजे जग।
धारा लागी जे-घणी, तो दीजै धण रग॥

भावार्थ—हे नाइन ! आज मेरे पैरो में मेहदी मत लगा क्योकि मैंने सुना है कि कल युद्ध होनेवाला है। यदि कल प्रियतम धारातीर्थ मे स्नान करले तो फिर खूब रंग देना।

नायिका की सती होने की इच्छा मे साहस और सरलता एक दूसरे को चूम रहे है। भूषणमे यह बात कहा ?

दरजण लबी अगिया आणीजै अब मूझ।
तव टोटे मोनू दया दूण सिवाई तूझ ॥

भावार्थ—हे दरजिन ! अब मेरे लिये लम्बी अगिये लाया करना। तुझे जो घाटा होता है (मेरे सधवापन से कपडे न सीनेसे) उसपर मुझे दया आती है। इसीलिये अब मैं तुझे दुगनी सिलाई दूगी।

जरा सहृदयता से देखिये, यहा उदारताने साहसभरी कसकके गले मे गलवहिया डाल रक्खी है।

कत लखीजै दोहि कुल, न थी फिरती छाँह।
मुडियाँ मिलसी गोदवो, बले न घरणी बाँह ॥

भावार्थ—हे कत ! अपने दोनो कुलोको देखना न कि अपनी फिरती हुई छायाको। यदि युद्धभूमिमे मुडे तो सिरहाने तकिया भले ही मिल जाय, प्रियतमाकी बाह नही मिलेगी।

प्राणोकी बाजीके साथ खिलवाड करनेवाला यह पवित्र प्रेम राजस्थानकी पुण्यभूमि मे ही पनप सकता है।

पीहर पूछे खोलनी, पेई भूषण केर।
हेडविया भाभी हँसी, नणद कतै नालेर ॥

भावार्थ—ससरालसे पहिले-पहल पीहर आकर जब आभूषणोकी पेटी खोली गई तो भावज हँस पडती है कि ओहो ! ननदके पास तो (सती होनेका) नारियल भी है।

गुलाम भारत के पर्दे पर राजस्थान ने (चाहे वह अल्पांशमे ही क्यों न हो) अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा क्यो बना रक्खी है इसका रहस्य समझाने की जरूरत नही रह जाती। भूषण ने भी लिखा है कि जिन्हें

पति के गले मे बाँह डालने का सौभाग्य नही मिला था वे पेडो से लिपट रही है, पर यहाँ तो कुछ बात ही दूसरी है । कर्नल टाड ने झूठ नही लिखा कि राजस्थान की चप्पा-चप्पा भूमि थर्मापोली है और हरएक गाव अपना एक लियोनीदास रखता है । इस तरह हरएक नही लाखो उदाहरण दिये जासकते है । भूषण के ढगकी कविताएँ भी राजस्थानी साहित्य मे अतुल प्रमाण मे है । लडाई का वर्णन ऐसी भयानक भाषा मे किया हुआ है कि लडाई का चित्र खडा हो जाता है । राजस्थानी साहित्य के विद्वान प० मेनारिया एम० ए० लिखते है कि राजस्थानी कवियोकी वीर-रसकी कविता तो इतनी उच्चकोटिकी बन पडी है कि उसतरहकी कविताका ससारके अन्य किसी भी साहित्यमे मिलना दुर्लभ है । हो सकता है कि इस कथनमे गर्वोक्ति हो, पर यह सबको चुनौती जरूर है । हिन्दी-ससारको सतर्क होकर सावधानीसे अपने इस गौरवशाली साहित्यकी रक्षा और खोजके लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिये ।

# प्रियप्रवासका 'पवनदूत' और 'कामायनी' का सृष्टिसौन्दर्य

'प्रियप्रवास' हरिऔधजीकी अमर कलाकृति है। वैसे तो प्रतापनारायण पुरोहितका 'नलनरेश' अनूप शर्माका 'सिद्धार्थ,' प्रसादजीकी 'कामायनी' और श्यामनारायण पाण्डेयकी 'हल्दीघाटी' आदि खडी बोलीके कई काव्य प्रकाशित हो चुके है; किन्तु 'प्रियप्रवास' की लोकप्रियता अभी किसी को प्राप्त नहीं हुई। 'पवनदूत' उसी 'प्रियप्रवास' का एक सुन्दरतम हिस्सा है।

'प्रियप्रवास' के छठवे सर्गमे राधाजी पवनको दूत बनाकर अपने प्रियतम कृष्णके पास सन्देश भेजती है। महाकवि कालिदासका 'मेघदूत' एक प्रसिद्ध काव्य है। उसमे यक्षने मेघको दूत बनाकर अपनी प्रियतमाके पास भेजा है। इसीलिये उस ग्रन्थका नाम 'मेघदूत' पडा। 'हरिऔधजी' उसीसे प्रभावित जान पडते है। शायद इसीलिये 'प्रियप्रवास' मे भी उन्होने पवनदूतकी रचना की। यह प्रथा बहुत प्राचीन है। राजस्थानमे 'ढोलामारू' की एक प्रसिद्ध कथा है। उसमे भी मारू अर्थात मरवण (मारवाड़की राजकुमारी) अपने ढोलाके पास कुरज पक्षियोद्वारा सन्देश भेजती है। प्रसिद्ध प्रेम-कहानी पद्मावतमे भी इस तरहका वर्णन मिलता है।

'पवनदूत' मे वियोग शृंगार का अच्छा वर्णन है। राधा कहती है—

'मै रो रो के प्रियविरहसे
बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा
श्याम को तू सुनादे॥'

राधाके सन्देशमे आत्मसमर्पणका भाव कूटकूटकर भरा है—

'यो देना ऐ पवन बतला
फूल सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल पग को
चूमना चाहती है॥

## -९५- प्रियप्रवास का 'पवनदूत' और 'कामायनी' का सृष्टिसौन्दर्य

प्रियप्रवासकी राधा सचमुच विशाल हृदया है। वहाँ प्रेमकी मस्ती नही–उन्माद नही। राधा के प्रेममे मर्यादा है और त्याग। वह कहती है यदि तू अधिक कुछ नही कर सकती तो केवल इतना ही कर–

'छू के प्यारे कमल पगको
प्यार के साथ आजा॥
जी जाऊँगी हृदयतलमे
मै तुझी को लगाके॥'

राधाके इन करुण और दर्दभरे हृदयोद्गारोको जब हम पढते है तो यह विचार आये बिना नही रहता कि कृष्ण बडे कठोर थे जो उन्होने ऐसी एकनिष्ठ प्रेयसीकी सुधि न ली। राधा व्यथित है किन्तु विरहने उसे किंकर्तव्यविमूढ नही कर दिया है। वह स्वय एक पतिप्राणा आर्य–रमणीकी तरह अपना कर्तव्य पहिचानती है। यह काव्यस्थल कलात्मक दृष्टिसे एक अनूठा प्राकृतिक चित्र है। राधा के सन्देशोमें हरिऔधजीने कवि कल्पनाका अपव्यय नही किया। दूरकी सूझमें कल्पना की ऊहावृत्ति यद्यपि चमत्कार अवश्य उत्पन्न करती है, परन्तु अतस्तल के सच्चे उद्गारो के बीच झूठी अतिशयोक्तियाँ नकली मोती की तरह प्रतीत होती है। इन ऊहात्मक और अत्युक्तिपूर्ण वर्णनो से हरिऔधजी बिलकुल दूर रहे है। राधाके सन्देश मे उन्होने रीतिकाल के श्रृगारी कवियो की तरह बालकी खाल नही निकाली। प्रियतम के वियोग में शीतल पवन राधाको नही सुहाती, यह स्वाभाविक है

'तू आती है वहन करती
वारि के सीकरोसे
हा! पापिष्ठे फिर किसलिये
ताप देती मुझे है॥

'पवन-दूत' में हरिऔधजी' ने बडी ही चतुराई से राधा के द्वारा कृष्णका स्वभाव तथा सौन्दर्य वर्णन करा दिया है—–

'सीधे सीधे वचन उनके'
सिक्त पीयूष होगे।
साँचे ढाला सकल वपु है
दिव्य सौन्दर्यवाला॥

दुखकी अवस्था मे मानव हृदय सहानुभूतिपूर्ण हो जाता है। राधा भी पवन को सतर्क कर देती है कि तेरे इन कार्यो से रास्ते में किसी को जरासा भी कष्ट न हो। राधाके सन्देश मे भोलापन है, सुदरता है, स्वाभाविकता और सच्चाई है। राधाका सन्देश ले जानेके लिये कोई भी तैयार हो जाता। उसके कहने का तरीका कितना सुन्दर है—

'मै हू जीमे बहुत रखती
वायु तेरा भरोसा।
जैसे होवे भगिनी
विगडी बात मेरी बनादे'।

कृष्ण से मिलने के लिये वह कितनी बेचैन है—

'प्यारी छाया मृदुल स्वरसे
मोह लेगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहा
तू न विश्राम लेना॥'

उसे डर है कि वृन्दावन के मुग्धकारी दृश्योमे पवन कही मोहित न हो जाय और सन्देश पहुचनेमे देर न हो। प्रियमिलन की कितनी उत्सुकता—

'प्यारा वृन्दा विपिन मनको
मुग्धकारी मिलेगा।
आना जाना इस विपिन से
मुह्यमाना न होना॥

विश्वप्रेमिका राधा अन्त मे यहा तक सतोष करने के लिये तैयार है—

'चाहे लादे प्रिय-निकट से
वस्तु कोई अनूठी।
हा हा! मै हू मृतक बनती
प्राण मेरा बचा दे'॥

तब राधा के प्रति सहज ही हमारी श्रद्धा बढ जाती है और महाकवि हरिऔध के शब्दो में हम भी कहने लगते है— 'स्त्री जाति रत्नोपमा'।

'कामायनी' स्वर्गीय प्रसादजी का अमर महाकाव्य है। 'अलकार शास्त्र' के आचार्यों की परिभाषा के अनुसार महाकाव्य मे 'प्रकृति-वर्णन' भी अपना निजी महत्व रखता है और इस दृष्टि से 'कामायनी' सफल रचना है।

मानव जीवन का 'प्रकृति' के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है क्योकि उसकी प्रेरणा हमे अपने लक्ष की ओर—'पुरुष' के निकट—ले जाने मे सहायता देती है। पेड़ और पहाड़, नदी और झरने, वन और उपवन, इसी तरह उषा और चाँदनी को जब हम देखते है तो सहज ही हमारा कुतूहल हमें यो कहने के लिए मजबूर करता है— अद्भुत रचना है उस 'पुरुष' की। अत. स्पष्ट है कि 'प्रकृति' हमारा साधन है, साध्य नही। एक पुरानी कहावत है कि भारतीय हृदय 'देवालय' में इसलिए श्रद्धा रखता है कि वहाँ 'देव' अर्थात् अपने भगवानका दर्शन करता है। वेदो के अनुशीलन करनेवाले भी यही कहते है कि वेदो मे भी 'नग्न प्रकृति' का वर्णन नही है। कुछ भी हो, हमारे यहाँ प्रकृति का स्थान हमेशा गौण रहा है।

इधर पाश्चात्य साहित्य की टकराहट ने भारतीय आदर्शों के बन्धन ढीले कर दिये है। कहानी, नाटक और उपन्यास सभी जगह आप बदला हुवा 'टेकनिक' पायेगे। आज के महाकाव्य मे 'मगलाचरण' गायब है, नाटक में 'सूत्रधार' के दर्शन नही होते। कहने का अभिप्राय यह है कि बदलते हुए युग का प्रभाव हमारे 'प्रकृति-वर्णन' पर भी पड़ा है और हम देखते है कि आज शुद्ध 'प्रकृति-वर्णन' की भी हिन्दी मे कमी नही रही है।

हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि मानव-हृदय का 'प्रकृति' से निकटतम सम्बन्ध है क्योंकि वह उसी मे पलता, बढता और प्रेरणा पाता है। इसी तरह 'काव्य' का उद्गम स्थान मानव-हृदय है। अत काव्य और प्रकृति का भी घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। या यो कहिए कि काव्य में प्रकृति वर्णन अनिवार्य है। जिसकी रचना मे सृष्टि-सौन्दर्य की अनूठी छटा न हो वह 'कवि' अधूरा समझा जाना चाहिए। यह दूसरी बात है कि चाहे फिर वह प्रकृति की कोमलता से प्रभावित हो या उसके उग्र रूप का वर्णन करे लेकिन वह उसमे बच नही सकता।

प्रकृति-वर्णन प्राय दो प्रकारका पाया जाता है। सिर्फ 'प्रकृति-वर्णन' के लिए ही वहाँ हम उसे शुद्ध, नग्न अथवा 'प्रधान' प्रकृति-वर्णन कहते हैं और जहाँ प्रकृति-वर्णन को साधन बनाकर काम लिया जाता है, तब प्रकृति वर्णन "गौण" कहलाता है। 'कामायनी' मे दोनो प्रकार का वर्णन मिलता है पर दूसरे प्रकार का अधिक। कुछ नमूने देखिए–

प्रकृति मे दार्शनिक भाव–

"नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड या चेतन।"

उपमा रूप मे प्रकृतिका प्रयोग–

"उसी तपस्वी-से लम्बे थे,
देवदारु दो-चार खडे;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बन कर ठिठुरे रहे अडे।"

प्रकृति का प्रलय-रूप भी देखिए–

"दिग्दाहो से धूम उठे, या
जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन मे भीम प्रकपन
झझा के चलते झटके।
बार-बार उस भीषण रव से,
कँपती धरणी देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिगन के हेतु अशेष।

## —११— प्रियप्रवास का 'पवनदूत' और 'कामायनी' का सृष्टिसौन्दर्य

प्रकृति मे मानवता का आरोप—

"पवन पी रहा था शब्दो को
निर्जनता की उखडी सांस,
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि
बनी हिम-शिलाओ के पीस।"

प्रकृति का सहज आनन्द—प्रात काल—

"नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर कर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीडा करता
जैसे मधुमय पिंग-पराग।
धीरे-धीरे हिम आच्छादन
हटने लगा धरातल से,
जगी वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से
नेत्र निमीलित करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने
जलधि लहरियो की अगडाई
बार-बार जाती सोने।"

हिमालय वर्णन—

"विश्व कल्पना सा ऊँचा वह
सुख शीतल संतोष निदान,
और डूबती-सी अचला का
अवलम्बन मणि-रत्न-निधान।"

रात्रि का वर्णन—

"जब कामना सिन्धु तट आई
ले सन्ध्या का तारा दीप

फाड सुनहली साडी उसकी
तू हँसती क्यो अरी प्रतीप ?
पगली हाँ सम्हाल ले, कैसे
छूट पडा तेरा अचल;
देख बिखरती है मणिराजी
अरी ! उठा बेसुध चचल ।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली !
देख अकिचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली ।"

प्रकृति मे मगल-भाव—

"सृष्टि हँसने लगी, आखो मे खिला अनुराग,
राग रजित चन्द्रिका थी, उडा सुमन पराग ।
देवदारु निकुज गह्वर सब सुधा मे स्नात;
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात ।"

इसी तरह सैकडो प्रकार के नमूने दिये जा सकते है । इतना सुन्दर और पचरगी सृष्टि-सौन्दर्य हिन्दी के आधुनिक काव्यो मे और वह भी एक ही जगह शायद ही कही देखने को मिले । मुझे तो 'कामायनी' सृष्टि-सौन्दर्य की एक पिटारी-सी जान पडी । उसके हर एक पृष्ट मे 'प्रकृति' अपना नया रग लिए हुए खडी है ।

## 'अज्ञातशत्रु' तथा नाटक और उपन्यास में भेद

'अजातशत्रु यह एक ऐतिहासिक नाटक है। संस्कृतके नाटकों की तरह न तो इसके आरम्भमें 'मंगलाचरण' या 'नान्दीपाठ' आदि है और न अन्तमें 'भरतवाक्य'। इस नाटकका यथार्थ आरम्भ दूसरे दृश्यसे ही तो है क्योंकि प्रथम दृश्यमें तो हम कुछ प्रधान पात्रों अजातशत्रु, वासवी और छलना का परिचय ही पाते हैं। वस्तुकी जटिलताके कारण बहुतसे दृश्य ऐसे भी आ गये हैं जिनको यदि नाटक से निकाल भी दिया जाय तो कोई हानि नहीं हो सकती और इस ढंग से अभिनयके योग्य बनाया जा सकता है। इसमें तीन अंक और अट्ठाईस दृश्य हैं।

'प्रसादजी' पहले कवि हैं और बादमें नाटककार। उनके गद्यमें भी कवित्व आ गया है। भावोंकी गहनता और विचारों की दार्शनिकता के कारण नाटककी भाषा क्लिष्ट हो गई है। बिंबिसार, वासवी, गौतम आदिके कथोपकथन में तो दार्शनिकता के खूब दर्शन होते हैं, गौतम से प्रभावित अन्य पात्रोंमें भी दार्शनिकता आ गई है। भाषाकी 'क्लिष्टता' नाटक में कदापि उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि 'क्लिष्टता' और साहित्यिकता ये दोनों भिन्न बातें हैं।

नाटक के नामसे तो यह जान पड़ता है कि अजातशत्रु ही उसका नायक है। लेकिन नाटकमें प्रसेनजीत, विरुद्धक, छलना, मागन्धी, मल्लिका और पद्मावती आदि सबके लिये लेखकने पाठकोंकी उत्सुकता को उत्तेजित किया है। 'नायक' वह होता है, जिसके प्रति हमारी सबसे अधिक सहानुभूति हो और उसके चरित्र-विकासका अन्तिम परिणाम देखनेके लिये हम सबसे अधिक उत्सुक हों। नायक तमाम घटनावलीका सूत्र होता है तथा कथानक आधार। इस दृष्टिसे जब हम देखते हैं तो नायक निश्चित् करने में कठिनता पैदा हो जाती है। वस्तुकी जटिलताके कारण ही

घटनाकी व्यवस्था भी सुन्दर न हो सकी। यदि लेखकका उद्देश्य मानव हृदयकी कुप्रवृत्तियोंके ऊपर सुप्रवृत्तियोंकी विजय दिखाना है तब तो गौतमको नायक मानना चाहिये क्योंकि विश्वप्रेम और करुणा की धारा इसमे बह रही है और इन्ही सिद्धान्तोंकी नाटकमे विजय होती है।

अजातशत्रु का कथानक चार राज्योंकी परिस्थितियोंसे सम्बन्ध रखता है। मगध, कोशल, कौशाम्बी और काशी। काशी तो मगधका ही एक प्रान्त है। मगध और कौशल का तो परिणाम देखने को मिलता है पर कौशाम्बी का नाटक के व्यापार से कोई विशेष सम्बन्ध नही दीखता।

संस्कृतशास्त्र के विरुद्ध कुछ वर्जित दृष्य भी आ गये है। यह दूसरी बात है कि लेखकने श्यामाकी मृत्यु नहीं दिखायी पर तब भी उसकी हत्याके प्रयत्नसे पाठकोंपर कुछ असर तो होता ही है। बौद्ध साहित्यकी प्रसिद्ध वेश्या आम्रपाली को महाराज उदयनकी रानी मागन्धी बनाकर लेखकने अपनी कल्पनाका अधिक स्वतन्त्रताके साथ उपयोग किया है, ऐसा कुछ विद्वान समझते हैं किन्तु मैं इसे बुरा नहीं समझता। नाटकके कुछ गाने बहुत क्लिष्ट हैं। सम्पूर्ण नाटक में पद्मावली का गाना मुझे सबसे सुन्दर जान पड़ा—

मीड मत खिंचे बीनके तार!
निर्दय उँगली! अरी ठहरजा,
पलभर अनुकम्पा से भरजा,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार।

नाटकमें पद्य प्रकोष्ठके ही दृश्यो की अधिकता है। नारी—चित्रण में मल्लिका का चरित्र—चित्रण सुन्दर है। कुछ आलोचको ने उसके शब्दो में अशांति और उपालम्भ पाया है किन्तु मेरी दृष्टिसे वह अत्यंत स्वाभाविक है। नाटक मे एक बात कुछ अखरती है। गौतम और देवदत्त एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हैं। वासवी और छलना इनको क्रमशः गुरुदेवकी तरह पूजती है। किन्तु गौतम के सिद्धान्तो—अहिंसा और करुणा की विजय करानेकी लहरमें लेखकने छलनासे देवदत्त के प्रति कहलवा दिया—'ओह मैं

१५ नाटक और उपन्यास की कथा वस्तु मे भेद है। उपन्यास मे महाकाव्य की तरह छोटी छोटी अवान्तर कथाओ का समावेश हो सकता है किन्तु नाटक में यह गुजाइश नही रहती। किसी उपन्यास की कथावस्तु को नाटक मे बदलना मुश्किल है।

१६ उपन्यासकार के पास अपनी अभिव्यक्ति के लिये केवल शब्द ही रहते है किन्तु नाटककार अभिनेताओ की वेशभूषा, भावभगी और चाल ढाल के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति मे अधिक सुविधा और सहायता प्राप्त कर लेता है।

७ जिस अवसर पर उपन्यासलेखक स्वयं अपनी ओर से टीका टिप्पणी करता है, उस अवसर पर नाटककार 'स्वगत कथन' से काम लेता है। इस प्रकार के कथन द्वारा नाटककार हमें उस पात्र के उन आन्तरिक और गूढ विचारो आदि से परिचित कराना है जिन्हें वह साधारण कथोपकथन मे प्रकट नही कर सकता।

८ 'नाटक' की अपेक्षा 'उपन्यास' मे रागात्मकता कम रहती है अत उपन्यास को समझने मे पाठक के हृदयपर कम बोझ पडता है। नाटक देखने में मनुष्य का मन रम जाता है।

९ जबसे नाटको का स्थान सवाक-चलचित्रोने ले लिया है तब से जनतामे नाटकों की अपेक्षा उपन्यास अधिक पढे जाने लगे है अत अपने विचारो को समाज में फैलाने के लिये नाटको की अपेक्षा उपन्यास अधिक सुलभ साधन होते जा रहे है।

१० नाटको को सफल बनाने के लिये बहुत से सहायक उपकरणोकी आवश्यकता होती है अत नाटक द्वारा जनतापर प्रभाव डालना उपन्यास की अपेक्षा-अधिक खर्चीला होगया है।

११ उपन्यास का महत्व उसकी कथावस्तु की चमत्कारिता और कौतुहलता पर निर्भर है तथा नाटक का उसके अभिनय की स्वाभाविकता पर।

१२ उपन्यास मे काल्पनिकता अधिक होती है अत वह अपनी नायिका को त्रिभुवन सुन्दरी बना सकता है किन्तु नाटक दृश्य काव्य होने के कारण नाटककार अपनी नायिकामें उतना ही रग भर सकता है जितना कि रगमचपर दिखाया जा सकता है।

१३ उपन्यास एक प्रकार की आख्यायिका है जो घट चुकी है। उपन्यासकार एक ऐसी घटना उल्लेख करता है जो बीत चुकी है किन्तु नाटककार 'भूत' को वर्तमान में बदल देता है वह अतीत की घटनाओ का प्रत्यक्ष दर्शन करता है।

१४ उपन्यास के छ तत्व माने गये है—वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य। नाटक के मूलतत्व है—वस्तु, नेता और रस।

किसी भ्रान्ति में थी ! जी चाहता है कि इस नर पिशाच को अभी मिट्टी में मिला दूं। प्रतिहारी ! अभी इस मुंडियेको वन्दी बनाओ।' जब कि देवदत्त को नदीमे डुबाकर आत्महत्या ही करना लेखक को अभीष्ट था तो छलनाके मुह से इन शब्दो को न निकलवाकर भी लेखक काम चला सकता था। मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि नारी-चित्रण में 'अजातशत्रु' की मल्लिका सर्वश्रेष्ठ है। उसी के मुह से लेखक कहलवाता है-'व्यर्थ स्वतत्रता और समानताका अहकार करके उस अपने अधिकार से हमको वचित न होना चाहिये।' पता नही इस युगकी माँग इसे किस दृष्टि से देखे।

नाटकका अन्तिम दृश्य सबसे सुन्दर और प्रसादजी की प्रतिमा का द्योतक है। उसमे है-रसात्मकता, हास्य-विनोद और वेदना। महाराज बिंबिसारके ये शब्द मानो वर्तमान युगको कुछ सन्देश दे रहे हो-'यदि मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र-लताके कोमल किसलयोके झुरमुटमे एक अधखिला फूल होता तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्वमे न मचता।'

१ नाटक का रूप बहुत कुछ रगशाला के प्रतिबन्धो के अनुसार निश्चित करना पडता है किन्तु उपन्यास मे इस तरह का कोई प्रतिबन्ध नही रहता।

२ नाटक दृश्य-काव्य होने से उसमें सजीवता या प्रत्यक्ष अनुभव की छाया रहती है। यह उपन्यास मे नही आ सकती।

३ उपन्यास की रचना केवल पढने के लिये होती है किन्तु नाटक की रचना रगशाला मे अभिनय के लिये होती है।

४ नाटक में स्वय नाटककार को टीका टिप्पणी करने या कुछ कहने का अधिकार नही होता किन्तु उपन्यास में लेखक ऐसा अच्छी तरह कर सकता है।

५ उपन्यास के विस्तार के सम्बन्ध में कोई नियम निर्धारित नही हो सकता किन्तु नाटककार को यह स्वतत्रता प्राप्त नही है। नाटक की कथावस्तु मर्यादित होती है।

६ नाटक की कथावस्तु की भाँति उसका चरित्र-चित्रण भी सक्षिप्त होना चाहिये। उपन्यास मे चरित्र-चित्रण बहुत विस्तार के साथ हो सकता है।

## गुप्तजी का 'किसान' और 'द्वापर'

'किसान' मैथिलीशरणजी की एक छोटी सी काव्य-रचना है, जो अब शायद पुरानी हो चुकी किन्तु वह बीसवी सदी के किसानो का एक ऐसा चित्र है, जो इतिहास के पर्दे पर उतर कर हमारे उज्ज्वल भविष्य मे भी अपनी भूतकालीन धूमिलता की ओर सकेत करता रहेगा, जिसे देख कर हम रो उठेगे। दु.खद घटनाओ का हम साहसपूर्वक सामना करते है, किन्तु उनकी स्मृतियाँ हमारी आँखो में आँसू बहा देती है। गुप्तजी का 'किसान' चाहे स्थायी साहित्य की सामग्री न हो किन्तु यह किसानो का वह करुण क्रन्दन है जो पूछने की शक्ति रखता है कि हम मर चुके या जिन्दा है। निरीह मानव-प्राणियो की आह जिसे पूजीपति अपने पेट में हजम किये हुए थे, वह अब भयकर विस्फोट के साथ बाहर निकलना चाहती है, यदि उन्हे अपने प्रश्न का समुचित उत्तर न मिला—

"क्यो है हम यो विवश
अकिंचन दुर्बल रोगी?"

एक ओर दीपावली के समय सैकडो रुपयो मे आग लगाई जाती है, तो दूसरी ओर गरीब की झोपडी में दीपक भी नही। विवाह के प्रसग पर हजारो रुपयो की आतिशबाजी मे आग लगते देखते है और विवाह के ही मौके पर गरीब के यहाँ बिना मशाल के अन्धेरा होते भी देखते है। रईसो की ऐय्याशी मे लाखो रुपए स्वाहा होते किसने नही देखे और गरीबो की स्त्रियो को वस्त्रहीन दशा मे लज्जित होते देखकर किसने अपनी आँखे बन्द करली? स्वार्थ से प्रेरित होकर राष्ट्र करोडो रुपयो की बारूद मे बत्ती लगा देता है, लेकिन गरीबो की ओर भी किसीने देखा?

"विष खाने के लिए टका भी पास नही है।"

और किसी तरह मरनाही चाहते है तो—

"याद यहाँ पर हमे नही यम भी करते है।"

अमीरो की शिक्षा में पानी की तरह पैसा खर्च होता है और वे सुशिक्षित अमीर दुखियो की आत्मा के साथ दिल्लगी करते है और गरीबो की शिक्षा ?—

"शिक्षा को हम और हमे शिक्षा रोती है,
पूरी बस वह घास छीलने मे होती है।"

पूजीपतियो की लूट का तमाशा भी देखिए कि वह भोले-भाले किसानो को उल्लू बनाने मे किस तरह अपनी शिक्षा और व्यापारिक मुस्कराहट का उपयोग करते है—

अमीर—

"सब पन्द्रह आने कम सत्तर।
जाना कभी न भूल"

यदि इस ढग से महाजन लोग न कहे, तो फिर सुशिक्षित कैसे कहे जाय ? अब किसान का उत्तर सुनिए—

"आने तो मै दे न सकूगा,
ब्याज है कि है लूट।"

उत्तर कितना विद्वतापूर्ण है।। आखिर पढाई भी तो बेचारे की घास खोदने में पूरी हुई है। तभी तो अमीर महाजनो को उनके साथ खिलवाड करनेका मौका मिल गया।

"हँसा महाजन भी फिर उसने मान लिया प्रस्ताव।"

क्यो न मान ले, सिर पर हाथ घुमा दिया।

गरीब किसान क्या जाने कि वह जिन्दा गाड दिया गया है।

गुप्तजी ने सम्पत्ति का विश्लेषण बहुत सुन्दर किया है। सोना और पीतल दोनो पीले रग के होते है किन्तु न जाने क्यो हम लोगो ने सोने को इतना अधिक महत्व दे दिया है। 'सपत्ति' वही है जिसको ससार के

लोग मान लेते हैं; इसके सिवा कुछ नहीं। अब हमने 'धन' का महत्व 'जन' से भी अधिक कर दिया, तभी से अत्याचार का सूत्रपात प्रारम्भ हुआ। धन के लिए ही मनुष्य निरन्तर पाप-पुण्य करता रहता है—

"जन से धन बढ़ गया कि जिससे
जन ही जन को मार रहा।"

वस्तु-स्थिति समझने के बाद कवि कह उठता है—

प्रभुवर! धन के लिए किसी का,
मैं न कभी अपकार करूँ,
धन ही मिले मुझे तो उससे,
जनता का उपकार करूँ॥

किन्तु कवि के इस संदेश को धन-लोलुप पूँजीवादी क्या सुन रहे हैं? वे तो शायद आज यही कहते दिखाई दे रहे हैं—

करना होगा काम छटपटाते हुए,
डूबो भी तो हाथ फटफटाते हुए!

गुप्तजी को भी अभी यही विश्वास है, अन्यथा वे यों न लिखते। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक दिन आनेवाला है जब हम गुप्तजी की इच्छा को फलवती होते देखेंगे।

कवि के परिपक्व भावों का परिस्फुटन प्राय. उसकी प्रौढ़ावस्था की रचनाओं में पाया जाता है। अत द्वापर की ओर कुछ नई बात देखने के लिये, साहित्यिकों की दृष्टि सहज ही आकर्षित हो जाती है।

'साकेत और 'यशोधरा' के पश्चात् 'द्वापर' (सन्देह) का नाम ही आलोचकों की आँखों में असफलता की सूचना देता है तो 'गुप्त'जी पुस्तक के निवेदन में अपनी संकल्प-विकल्पपूर्ण स्थिति प्रकट करते हुए मंगलाचरण के दोहे की ध्वनि से उसे और भी पुष्ट कर देते हैं—

धनुर्बाण या वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझपर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग।

किन्तु, कवि की यह प्रसादगुण-युक्त, कोमलावृत्ति-प्रधान, करुण एवं शान्ति-रस से भरी हुई रचना बहुत ही सुन्दर है। फिर भी न जाने क्यों 'गुप्त' जी ने अपनी सदिग्धता की ओर संकेत किया है। शायद पर्याय से उन्होंने कह दिया कि 'द्वापर' को समालोचना सन्देह रहित नही हो सकती।

'द्वापर' हमें भूमि मे 'पाँचजन्य' फूकनेवाले कृष्ण का दर्शन नही कराता वरन् कराता है उसी व्रज-मण्डल के मुरली मनोहर कृष्ण का जो व्रज-ललनाओ का प्यारा रहा है। कृष्ण स्वय कहते है—

"राम-भजन कर पाँच-जन्य! तू,
वेणु बजा लू आज अरे,"

कृष्ण के इस कथन पर कि—

"कोई हो, सब धर्म छोड तू
आ, बस मेरा शरण धरे,"

गावा का यों कहना—

"शरण एक तेरे मैं आई,
धरे रहे सब धर्म हरे!

'द्वापर' सन्देह का सन्देश जान पडता है। हमे चाहिये कि शकारहित होकर हम भगवान को भजे लेकिन इसमे जो सन्देह करते है कवि उनको भी दोषी नही मानता—

"अथवा तुम्हे दोष क्या, युग ही
यह 'द्वापर' सशय का,"

सरल भाषा में कोमलता के साथ गभीर एव सुन्दर भावनाओ के भरने मे कवि सफल हुआ है—

यशोदा— जीने का फल पा जाती हूँ
प्रतिदिन सखे खिला के,,
मरना तो पा गई पूतना,
अपना दूध पिला के।"

'द्वापर' में असीम, निर्मम, मर्मर, नीड, गोधलि, झुरमुट, जीवन-सध्या तथा शून्य गगन आदि छायावादी कवियो के प्रिय शब्दो का उपयोग कवि की चतुर्दिक प्रतिभा एव उदारता की ओर सकेत करता है।

भावो का अनुसरण करती हुई भाषा, स्वाभाविक अलकार-योजना, भारतीय जनता के जीवन में घुली--मिली हुई सूक्तियाँ तथा भाषा में चलतापन और स्थायित्व प्रदान करनेवाले मुहावरे सब एक साथ देखिये-

"राधा मे माधव माधव मे
राधा गृत्ति समाई।"
"एक-एक ब्रजबाला बैठी
जागरूक ज्वाला-सी।"
"कीच मचेगी उस पानी में,
जो गभीर नही है।"
"मेरे श्याम सलौने की है
मधु-सी मीठी बोली।"
"अहा! आज का कुसुम हार भी
कल का कूडा होगा।"
"पत्र-पत्र मर्मर करता है,
मरण नही आता है।"
"एक प्रीति की लता चाहती
दो आँखो का पानी!"

कवि ने बच्चो के भोलेपन का चित्रण भी मौलिकता के साथ किया है। कृष्ण कालीदह मे कूदने का कारण बतलाते है-

"तू कहती थी-और चुराना
तुम मक्खन का गोला।
छीके पर रख छोडेगी सब
अब भिड--भरा मठोला!
निकल उडी वे भिडे प्रथम ही
भाग बचा मै भोला!"

कवि के हृदय मे भारतीय महिलाओ के लिए जो स्थान एव सहानुभूति है वह 'उर्मिला' तथा 'यशोधरा' के चरित्र-चित्रण से स्पष्ट है। 'द्वापर' में भी कुछ पक्तियाँ विचारोत्तेजक एव युग-धर्म के अनुकूल है—

"नर के बाँटे क्या नारी की
नग्न-मूर्ति ही आई?
माँ, बेटी या बहिन हाय! क्या
सग नही वह लाई?
"किन्तु, आर्य-नारी, तेरा है
केवल एक ठिकाना;
चल तू वहाँ, जहाँ जाकर फिर"

'द्वापर' मे हम गुप्तजी को सच्चा देशभक्त, सगुणोपासक वैष्णव, भारतीय सस्कृति का पोषक और मर्यादावादी कवि देखते है—

"अपनी पुण्य-भूमि के ऊपर
धन-जीवन सब वारो।"
"ककर में भी शिवशकर है,
गिरि है गोवर्धन तो।"
"धर्म सदा सात्विक है, चाहे
कर्म कभी तामस हो।"
"जावेगे अवश्य हम अपने
प्रिय पितरो के पथ से,"

कवि ने 'द्वापर' के प्राय सभी स्त्री-पात्रो मे उदारता, पर दुखकायरता, सेवा एव कर्त्तव्यपरायणता के गुण भरकर उनके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है—

कुब्जा—"अथवा एक परस मे ही जब
तरस रही मै इतनी;
होगी विकल न जाने तब वह
सदा सगिनी कितनी ?"

राधा—"सुख की ही सगिनी रही मैं
अपने उस प्रियतम की;
व्यथात्रिश्य-विषयक न तनिक भी
बँटा सकी निर्मम की।"
गोपी—"जहाँ रहे बस सुखी रहे वह,
दुख हमारा अपना।
कुब्जा से बिनती कर देना—
'उसे देखती रहना!'

अन्त मे हम बिना सकोच के कह सकते है कि 'द्वापर' श्री 'गुप्त' जी के गौरव को बढाने मे समर्थ हुआ है।

# हिन्दी का कहानी साहित्य

'कहानी' का जन्म मानव जाति की उत्पत्ति के साथ होता है। ससार के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में हम सर्व प्रथम कहानियो का दर्शन करते है—जैसे शुन शेप, उर्वशी और यमयमी इत्यादि। ब्राह्मण ग्रन्थो और उपनिषदो में सैकडो कहानियाँ भरी पडी है। पुराण और महाभारत तो भारतीय कहानियो के अक्षय भण्डार है। 'पुराण' का अर्थ ही होता है—पुरानी कथाएं। जातक कथाओ में भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएं है। विश्व के कथा साहित्य में जातक कथाओ का बहुत ऊँचा स्थान है। भदत आनन्द कौशल्यायन द्वारा जातक कथाओ के दो खड हिन्दी में भी अनुवादित होकर प्रकाशित हो चुके है। इनमे प्राचीन भारत के जीवन का चित्र देखने को मिलता है। जातक गन्थ पाली भाषा में है। अंग्रेजी और बँगला में भी इनका अनुवाद हो चुका है। पचतत्र और हितोपदेश की कहानियाँ तो ससार प्रसिद्ध है और प्राय. सभी प्रमुख भाषाओ में अनुवादित हो चुकी है। पैशाची भाषा में गुणाढ्य की वड्डकहा (वृहतकथा) अत्यत प्राचीन कहानी संग्रह था जो अब प्राप्य नही है। उसी का सस्कृत रूप वृहत कथा मजरी और कथासरित्सागर के रूप में मिलता है। बौद्धो ने 'धम्मपद' के श्लोको पर कहानियाँ लिखकर 'धम्मपद अट्ठकथा' नामक कहानी सग्रह बनाया। इस तरह हम देखते है कि प्राचीन भारतीय साहित्य कहानियो की दृष्टि से संसार में सर्वोच्च है। ससार मे ऐसी एक भी सजीव भाषा नही है जिसने भारतीय साहित्य की कहानियो का अनुवाद नही किया।

हिन्दी कहानियो का इतिहास प्राय भारतेन्दुबाबू के समय से प्रारम्भ होता है। वैसे तो इशाअल्लाहखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी में प्रथम कहानी मानी जाती है किन्तु वास्तव मे कहानियो की परम्परा 'सरस्वती' और 'इन्दु' मासिक पत्रिकाओ के प्रकाशन के साथही शुरू होती

है। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष मे 'इंदुमती' नाम की कहानी पं. किशोरीलाल गोस्वामीने लिखी थी। बाबू गिरिजाकुमार घोष भी लाला पार्वतीनन्दन के नाम से बँगला कहानियो का अनुवाद करके 'सरस्वती' मे प्रकाशित करवाते रहे।

हिन्दी की अधिकतर कहानियाँ सामाजिक कुप्रथाओंका चित्रण करती है। जब हमारा समाज युगो की निद्रा से आखमलकर उठ रहा था तब ये कहानियाँ लिखी गई थी। अब हमारे सामने दूसरे ही ढंग के प्रश्न उठ रहे है अत. आज की हिन्दी कहानी का प्रवाह भी दूसरी दिशामे है।

सामाजिक कहानी लिखनेवालो के प्रेमचन्द मुखिया है। सामाजिक कहानियो से समाज की विचारधारा मे क्रान्ति होती है। प्रेमचन्द से बढकर अभीतक हिन्दीने कोई कहानीकार पैदा नही किया। इस क्षेत्र मे वे सम्राट है। उनकी विशेषताएँ निम्नांकित है–

१ प्रेमचन्द का एक प्रबलशस्त्र तीख छुरेसा उनका व्यंग है।

२ प्रेमचन्द जीवन के किसी भी अंग का चित्र बडी कुशलता और सुघडाई से खीचते है।

३ प्रेमचन्दजी के कथानक विशेष मनोरंजक होते है।

४ चरित्र चित्रण मे प्रेमचन्द उस्ताद थे।

५ प्रेमचन्द को मानव जीवन का अपरिमित ज्ञान था।

६ प्रेमचन्द की भाषा पात्रो के अनुकूल और ठेठ हिन्दुस्थानी है।

७ प्रेमचन्द का ध्येय समाज सुधार था।

८ प्रेमचन्द किसान जीवन के कलाकार है।

९ प्रेमचन्दकी साहित्यिक दुनिया विशाल भारतीय जनसमाज का प्रतिबिंब है।

१० प्रेमचन्द का साहित्य असल मे भारतीय गाव का आधुनिक इतिहास है।

'प्रसाद' जी की पहिली कहानी 'ग्राम' है जो सन १९११ मे इन्दु मे प्रकाशित हुई और अन्तिम 'सालवती' है। प्रसादजी की कहानियो मे

कथानक की अपेक्षा भावों का प्राधान्य अधिक है। उनकी 'पुरस्कार' नामक कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का सुन्दर समन्वय हुआ है। प्रसादजीने अपने जीवन में ६९ कहानियाँ लिखी। उनके ५ कहानी सग्रह– छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्रजाल प्रकाशित हो चुके है। प्रसादजी ने सामाजिक, रहस्यवादी और ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी है। उनका उद्देश 'प्रोपेगण्डा' नही था। उनकी कहानियाँ भावात्मक अधिक है। 'कौशिक' जी की कहानियो में गहरी जीवन के अच्छे चित्र रहते है। कौशिक जी की कहानियाँ वार्तालाप प्रधान है और उनमे मानसिक वृत्तियों का भी विश्लेषण पाया जाता है। उनकी पहिली मौलिक कहानी 'रक्षाबन्धन' सन १९१२ मे 'सरस्वती' म प्रकाशित हुई। गल्पमाला, चित्रशाला २ भाग, मणिमाला और कल्लोल उनके कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके है। सुदर्शन तथा कौशिक 'प्रेमचन्द' टाइप के ही कहानीकार है। 'उग्र' जी की कहानियाँ बडी चुभती हुई होती है। प बनारसीदास चतुर्वेदीने उनकी रचनाओं को घासलेटी साहित्य कहकर 'प्रोपेगंडा' किया था किन्तु उग्रजी की भाषा मे कमाल का बाँकपन है अत हिन्दीप्रेमी उनकी ओर आकर्षित हुये बिना नही रह सकते। विनोदशकर व्यास भाव प्राधान्य के नाते प्रसादजी का प्रतिनिधित्व करते है। प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानियो का हिन्दी साहित्य मे अच्छा स्थान है। उन्होने लगभग साढेतीन सौ से अधिक कहानियाँ लिखी है। इधर की कहानियो मे वे मनोविश्लेषक के साथ विचारक भी होते जा रहे है। भावुकता उनकी अपनी चीज है। उनकी कहानियो मे मानवता की सार्वजनीन वेदना का मर्मस्पर्शी चित्राकण मिलता है। वाजपेयीजी पर प्रगतिवाद का अधिकाधिक प्रभाव पडता जा रहा है। वे लिखते है–"जर्जर, मिथ्या, अगतिमूलक, रूढिग्रस्त और आधारहीन आदर्शो के विरुद्ध साहित्य सृष्टि न करना आज के साहित्यकार के लिये मानो एक अपराध है।" उनकी आत्मा का यह विद्रोह उनकी नई कहानियो मे मिलेगा। उनपर टैगोर, [illegible], डोस्टोवस्की, गोर्की और डी. एच लारेन्स का अधिक प्रभाव पडा है। उनके नाई कहानी संग्रह निकल चुके है। जैनेन्द्रकुमार हिन्दी [illegible] कहानी लेखक है। जीवन और कला के सम्बन्ध में उनका [illegible] है। [illegible] की [illegible]

और नीलम देश की राजकन्या उनके प्रसिद्ध कहानी सग्रह हैं। स्त्री लेखिकाओ मे उषादेवी मित्रा का ऊँचा स्थान है। उन्होंने २०० से अधिक कहानियाँ लिखी हैं। स्त्री कहानीकारो में सुभद्राकुमारी चौहान का बिखरे मोती और उन्मादिनी, सुमित्राकुमारी सिन्हा का वर्षगाठ और अचलसुहाग, शिवरानीदेवी का कौमुदी, कमलादेवी चौधरी का पिकनिक और उन्माद सत्यवती मल्लिक का दो फूल, होमवती का निसर्ग श्रीमती तारा पाण्डे का उत्सर्ग और चन्द्रवती जैन का नीव की ईट प्रसिद्ध कहानी सग्रह है। 'अज्ञेय' की अधिकाश कहानियाँ जेलजीवन अथवा गुप्तवास की अनुगतियो पर आधारित है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'सभ्यता' मे बताया है कि वर्तमान सभ्यता की सडाँधने हमारा दिमाग विकृत कर दिया है लेकिन पतन मे आत्माभिमान जागा है। ठाकुर वीरेन्द्रसिह एम ए. की कहानियो का सग्रह 'उँगली का घाव' है जिसमे सभी कहानियाँ प्रेम को लक्ष्य करके लिखी गई है और जिनमे यथार्थवाद की झलक है। श्री. यशपाल की कहानियो का सग्रह 'पिजरे की उडान' मे कहानियाँ सुन्दर, मनोरजक और जीवन के अधिक नजदीक है। राजा राधिकारमणसिह की कहानियो का सग्रह 'गाधी टोपी' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

नये लेखक स्वभावत नई दिशाकी ओर मुड रहे हैं। नये आचार महशिक्षा और मनोवैज्ञानिक समस्याओ मे हिन्दी कहानी को विशेष दिलचस्पी हो रही है। लगभग ये सब लेखक यथार्थवादी है। जीवन के कठोर सत्य से बचकर वर्तमान कहानी साहित्य कल्पना के जगमे विश्राम नही कर रहा, यह सतोषकी बात है। मजदूर तथा किसानों के आन्दोलन तथा साम्यवादी भावनाओ से सम्बन्ध रखनवाली कहानियाँ आजकल अधिक लिखी जाती हैं। इधर कहानी के क्षेत्रमे बहुत कुछ उलट फेर हो रहे है। 'अंचल' की हत्यारा कहानी बहुत सुन्दर है। आजकल की कुछ कहानियो मे विद्रोह की चिनगारियाँ है। अत्याचार और इस आर्थिक विषमतापर कलाकार मानो दात पीस उठता है। अत्याचार की आगमे जलनेवाले और भयकर दुखकी भट्टी में भभलते गरीब किसानो और मजदूरों की दयनीय दशा देखकर कलाकार के दयार्द्र हृदयमे कष्टप्रद अनुभूति का भयकर ज्वालामखी जाग उठता है। हमे आज भी कुछ कहानियाँ ऐसी मिलेगी

जो विश्वसाहित्यमें स्थान पासके। हिन्दी कहानी लेखकों की संख्या दिनोदिन बढती जारही है। इसके अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', ऋषभचरण जैन, अख्तर हुसेन रायपुरी, भगवतीचरण वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की कहानियाँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं। प. सुमित्रानन्दनपंत और निरालाजी ने भी सुन्दर कहानियाँ लिखी है।

हास्यरस की कहानियों में जी पी श्री वास्तव, श्री. अन्नपूर्णानन्द और कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' का नाम आता है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानीकार प भगवतीप्रसाद वाजपेयी आधुनिक कहानी के सम्बन्ध में लिखते है– 'प्रेमचन्द युग का कथाकार समाज सुधारक मात्र था, समाज की जर्जर प्राचीरों के ध्वन्सपर उसका नवनिर्माता वह नही था। पूंजीवाद के चिरपुरातन आदर्शों के संस्कारजन्य दुर्बल व्यक्ति और समाज को क्षणिक सुधार के ही धरातलपर रखने की चेष्टा उसने की, मानवी मूल्यांकन की आधुनिक विचारधाराओं के अनुसार समाज के सर्वथा नव निर्माणकारी पथ की ओर उसकी दृष्टि नही गई। यह स्थिति थी हिन्दी की कल की कहानी की। आज की कहानी को हम इससे आगे देखना चाहते हैं। हमारे आज के जीवन में कुछ गुत्थियां ऐसी है, जो सुलझने के बजाय उलझने की ही प्रकृति और लक्षणा रखती है। हम चाहते है कि प्रगति पथ का पथिक आधुनिक मानव या तो उन्हें सुलझाये, या फिर उन्हे काट डाले। जीवन के चरम लक्ष्यतक पहुंचाने मे समाज और उसके रूढिगत संस्कार यदि केवल बाधक है, तो उन्हे पदाघात से नष्ट कर डालनेकी आवश्यकता है।' कहानी के क्षेत्र मे बनारस का 'हंस' यही कार्य कर रहा है। विष्णु, राधाकृष्ण और श्रीमती चन्द्रकिरण सौनरिक्सा का नाम भी कहानी लेखकों मे उल्लेखनीय है। राहुलजी का 'वोल्गा से गंगा' कहानी संग्रह विश्वसाहित्य की वस्तु है। हजारों वर्ष पहिले के ऐतिहासिक रहस्य का कहानी के रूपमे इस मार्मिक ढंगसे उद्घाटन करना उन्हीं का काम था।

# महाकवि की परिभाषा और 'प्रसाद के दो नाटक'

प्रस्तुत विषय पर विचार करने के प्रथम यह आवश्यक प्रतीत होता है कि 'कवि' शब्द की परिभाषा पर थोडा विचार किया जाय किन्तु थोडे ही चिन्तन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द व्याख्या के सकुचित घेरे मे नही समा सकता। यही कारण है कि अब तक बहुत से विद्वान मिलकर भी इस शब्द की कोई ऐसी परिभाषा नही बना सके जो सर्व मान्य हो। हाँ, एकबात अवश्य देखने में आती है कि सब के भिन्न भिन्न मत होते हुये भी उनके मूल मे एक बात बीज रूप मे सब मे समान पाई जाती है; यदि ऐसा न होता तो हम इस शब्द के अर्थ का अनुभव भी नही कर सकते। चाहे कोई इस शब्द की परिभाषा न बना सके पर वह भी इस नाम को सुनते ही जान जाता है कि कवि क्या है और कौन हो सकता है। यही इसका प्रमाण है।

सीधे और सरल शब्दो मे साहित्य के विद्यार्थी यही समझते है कि सार्थक एव सुन्दर शब्दो मे अपनी अनुभूति अनूठे ढग से प्रकट करनेवाला व्यक्ति ही 'कवि' कहलाता है पर इसी भाव को नवीनता के प्रेमी साहित्यिक लोग अपने अपने निराले ढग मे मौलिकता का प्रदर्शन करने के लिये भिन्न-भिन्न शब्दोमें प्रकट करते है। अतमें इसी परिभाषा को बढाते बढाते हम यहाँ तक पहुँच जाते है कि कवि को 'ईश्वर' और उसकी रचना को 'प्रकृति' की सज्ञा देते है। वस्तुत इसी म कवि शब्द का रहस्य छिपा हुआ है।

किसी तरह 'कवि' शब्द का अर्थ समझने का प्रयत्न करने पर फिर 'महाकवि' को समझना आवश्यक हो जाता है। यह बताना अत्यत कठिन है कि अमुक 'कवि' है और अमुक 'महाकवि'। अपने 'विश्व साहित्य' मे बक्षीजी लिखते है "कुछ काव्य ऐसे होते है, जिनमें विश्वात्मा सचरण करती है।

वे देश और काल मे अनवच्छिन्न रहते है। ऐसे ही काव्यो को महाकाव्य कहते है, और उनकी रचना वे ही कवि करते है जो विश्वकवि कहलाते है।" महाकवि जमाने की गति बदल देता है; उसकी कठोर साधना का प्रखर सत्य प्रलय की सीमाओ को पार करने पर भी ज्योतिर्मय बना रहता है। उसके शब्दो मे मंतो के आशीर्वाद और अभिशाप की शक्ति रहती है और उसके निजी व्यक्तित्व मे मानव जीवन को ऊँचा उठाने का माद्दा रहता है। हम समझते है कि इससे सुन्दर कसौटी, किसी महाकवि को कसने के लिये और दूसरी नही हो सकती।

अभीतक कोई भी ऐसी भेदक रेखा के खीचने में समर्थ न हो सका कि जो कवि और महाकवि के अन्तर को अच्छी तरह समझा सके। सत्य तो यही है कि कवि, कविरत्न, कविवर, सुकवि, महाकवि और कवि सम्राट शब्दो मे कोई तात्विक भेद नही है। शब्दों की शक्तियो को तोलते हुये दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण ही यह भेद दृष्टिगोचर हो रहा है।

अन्धे सूरदास तथा कोमल भावनाओ के कवि सुमित्रानन्दन पंत, उसी तरह महात्मा तुलसीदास और सियारामशरण गुप्त में महदन्तर होते हुये भी हमारे कुछ सम्पादक अपनी मासिक पत्रिकाओमे इनको 'महाकवि' लिखते है। आचार्य कवि केशवदास, 'हरिऔध' और गंभीर जयशकरप्रसाद मे भेद होते हुये भी महाकवि माने जाते है। हिन्दी के एक डॉक्टर केशवदास की हृदयहीनता का उल्लेख करने के बाद लिखते है कि उनके नाम ही में कुछ ऐसा जादू है कि सहज ही मुख मे निकल पडता है—"महाकवि केशवदास"। श्री दुलारेलालजी ने भी 'दोहावली' की रचना के बाद बिहारीलालजी का नम्बर मारकर 'महाकवि' पद प्राप्त करलिया, ऐसा कुछ लोग मानते है। लोग समझते है कि प्रतापनारायण पुरोहित तथा प० अनूपशर्मा ने महाकाव्य लिखकर अपने को महाकवि सिद्ध करलिया तो प्रो रामकुमार वर्मा और प. माखनलल चतुर्वेदीने देवपुरस्कार पाकर। श्री मैथिलीशरणजीने युग का प्रतिनिधित्व करके तो प. गयाप्रसादजी शुक्ल 'सनेही' ने शीघ्र रचना करके जनता की आँखो मे महाकवि का स्थान बनालिया, ऐसा कुछ सम्पादक लोग समझते है। 'निराला' जी ने अपनी कठिन कविता की धाक जमाली इसलिये कुछ सम्पादक उनके नाम के साथ 'महाकवि' लिखने लग गये।

इसीलिये 'महाकवि' की परिभाषा भी मुश्किल होगई है। यदि कोई समझे की 'महाकाव्य' का लेखक ही महाकवि हो सकता है तो मिश्रबंधुओं का प्रयत्न निष्फल हो गया क्योंकि हिन्दी 'नवरत्न' के कुछ कवियों को महाकवि की उपाधि से वंचित होना पड़ेगा। यदि संसार का कल्याण करनेवाला और उसे पतन के गर्त से खींचकर उत्थान की ओर मोड़नेवाला ही महाकवि हो सकता है तो 'रीतिकाल' के महाकवि घाटे मे रहेंगे। देशकाल के प्रभाव से दूर रहकर कविता करनेवाला यदि 'महाकवि' माना जाय तो मैथिलीशरणजी बातो मे ही उड़ा दिये जायगे। कुछ देर सिर खुजलाकर कोई बोल उठे कि जिसकी रचना से पण्डित और मूर्ख अमीर और फकीर, वृद्ध और बालक स्त्री और पुरुष समान आनन्द उठा सके वही महाकवि हो सकता है, ऐसी स्थिति मे श्री 'निरालाजी' का क्या हाल होगा? यदि कोई विद्वान महाकवि के लिये कला-पक्ष की विशेषता का समर्थन करेगा तो स्वर्ग मे कबीर की आत्मा को क्लेश देने के पाप का भागी होगा और हृदयपक्ष को लेकर खड़े होनेवाले को चाहिये कि वह केशवदास की कीर्तिरक्षा का उपाय प्रथम ही सोचले तब आगे बढ़े।

वास्तव मे कोई भी विद्वान पुरुष अपने ज्ञान और अनुभव के बलपर कुछ स्पष्ट कारणों से यह तो बता सकता है कि अमुक कवि, अमुक कवि की अपेक्षा श्रेष्ठ है या एक मे दूसरे की अपेक्षा कौनसी अधिक विशेषताएँ हैं जिनके कारण एक को दूसरे से ऊँचा स्थान दिया जाता है पर यह बताना सरल नही है कि 'महाकवि' बनने का अधिकार किसे है। वह कौनसी भेदक रेखा है कि जिसको पार करते ही कवि को महाकवि संज्ञा प्राप्त हो जाती है। इस प्रश्न का हल परिभाषा मे नही, जनता के हृदय मे है।

श्री कृष्णानन्दजी गुप्त द्वारा लिखीहुई 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' की आलोचना 'प्रसाद के दो नाटक' के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है। यहाँ उसी की कुछ चर्चा की जायगी।

किसी के विचारो से मत-भेद होना बुरा नहीं है बशर्ते कि आलोचना के पीछे कुछ सद्भावना और सहानुभूति छिपी हो। बुरी तो आलोचना की वह घृणात्मक प्रणाली है जिसमे आलोच्य पुस्तक की आड मे लेखक पर विषैले गबार छोडे जाते है। हमे प्रसन्नता है कि गुप्त जी इस भद्दी शैली से दूर रहे।

आलोचक ने पुस्तक के प्रारम्भिक 'निवेदन' मे लिखा है "चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे सबसे अन्तिम और हिन्दी के श्रेष्ठ पत्र मे मैने जो राय पढी है, उसके अनुसार यह हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट नाटक है।" आगे चलकर आपने यो भी लिखा है––

"मेरे निकट इसका अधिक मूल्य नही। ठीक इसके विपरीत कथन के लिये मुझे इतना अधिक लिखना पड़ा है।" उपर्युक्त अवतरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक विद्वान जिस कृति को सर्वोत्कृष्ट मानता है दूसरा ठीक इसके विपरीत अर्थात् निकृष्ट। गुप्त जी की आँखो मे 'स्कन्दगुप्त' नाटक भारतीय साहित्य का एक झूठा मोती है, पर उसीको जो हिन्दी के महारथी 'रत्न' मानते है वे मूर्ख भी तो नही कहे जा सकते। वस्तुत: हिन्दी-ससार मे जब तक "तुम हमको आचार्य कहो हम तुमको महाकवि कहेगे अन्यथा याद रखिये" वाला सिद्धान्त प्रचलित रहेगा तबतक इसी तरह की आलोचनाएँ देखने को मिलती रहेगी।

इसी 'निवेदन' मे आगे चलकर गुप्त जी लिखते है–

"मैने उस अनुचित और झूठे एव हानिकारी विश्वास पर आघात करना चाहा है जो ऐसी रचनाओ के सम्बन्ध मे अक्सर किसी तरह पाठको के मन मे अपनी जड जमा लेता है ·· ··जो लेखक ऐसी मामूली गलतियो मे–एक साधारण लेखक भी जिनसे बचने की पर्वाह करेगा–अपने को नही बचा सकता वह उस प्रशसा के तनिक भी योग्य नही, जो किसी प्रकार उसे प्राप्त हो गई है।"

विज्ञ पाठक ही सोच सकते है कि गुप्तजी के हृदय मे 'प्रसाद' जी के प्रति कितनी सहानुभूति है जिसे साहित्यिक लोग समीक्षक का प्रधान गुण मानते है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक का कोई भी पात्र आलोचक को प्रसन्न न कर सका। गुप्तजी की ऑखो मे प्राय. सभी पात्र चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भद्दे है। पर्वतेश्वर को आलोचक ने नीच और कलकी देखा तथा राक्षस को अकर्मण्य एवं तुच्छ। चन्द्रगुप्त को निरा शेखीखोर और चाणक्य को डरपोक। उदाहरण के लिए हम यहाँ प्रसादजी के चाणक्य पर ही विचार करेगे।

चाणक्य– ब्राह्मण थे, ऋक् और अमृत जीविका से सतुष्ट थे। पर वे भी न रहे। कहाँ गये ?. . . . . . . . प्रजा की खोज है किसे ? वृद्ध दरिद्र ब्राह्मण कही ठोकरे खाता होगा या कही मर गया होगा।

इस पर गुप्त जी का भी वक्तव्य सुनिये– "बैठकर सिर पीटता तो क्या बुरा था ?" आलोचक के शब्दो मे लेखक के प्रति कुछ झल्लाहट नजर आती है। अपनी झोपडी को न देखकर पिता के लिये अकेले मे पुत्र का स्वाभाविक शोक भी गुप्त जी को अच्छा न लगा। माना कि चाणक्य से आलोचक यह आशा नही करता था पर यह तो सोचना था कि मनुष्य इतना हृदयहीन भी तो नही हो सकता। हाँ, वह अपने अपमान करने वाले नन्द के सामने नृशम भी हो सकता है और वह भी अनुकूल परिस्थिति मे, हर जगह नही।

नन्द–ब्राह्मण, तुम बोलना नही जानते हो, तो चुप रहना सीखो।

चाणक्य–महाराज, उसे सीखने के लिए मै तक्षशिला गया था... इसलिये मेरा हृदय यह नही मानता कि मै मूर्ख हूँ।

सहृदय पाठक सोचे कि चाणक्य के कथन में कितना अर्थ–गाभीर्य और वाक् विदग्धता है। किसी सम्राट की सभा मे इससे बढकर उत्तर इस युग का लेखक और क्या दिला सकता था। पर न जाने क्यो गुप्तजीने चाणक्य को आत्म सम्मानहीन एव क्रोध रहित समझ लिया।

चाणक्य–मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली भाँति परिचित रहता है।

इस पर 'चाणक्य के कथन का रुख न समझ कर आलोचक ने यह 'रिमार्क' दिया है।

'यह कथन गलत है। यदि वह अपनी दुर्बलता से परिचित हो जाय, तो किसी दिन विकसित हो कर एक ऐसी चीज बन जाय, जिसका मेरे पास कोई नाम नही है।'

गुप्तजी ने सोचने का कष्ट नही किया कि दुर्बलता से केवल परिचित होना और परिचित हो कर सतर्क रहना ये दोनो भिन्न बाते है। जहाँ पशु–पक्षी तक सयम से काम लेते है वहाँ मनुष्य अपनी दुर्बलता को जानते हुए भी क्या पतन के गर्त की ओर कभी नहीं झुकता ? उस समय वह

दुर्बलता को जानते हुए भी उसकी ओर दुर्लक्ष करता है, यह मानने में सकोच न करना चाहिए।

"यह अरस्तु और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।"

इस पर गुप्तजी लिखते है–"बडी सुन्दर बात है। परन्तु यह चटाई के लहँगे मे मखमल की गोट है।"

तात्पर्य यह कि आलोचक को सिवा बुराइयो के अच्छाई एक भी नही दिखती।

नन्द की मृत्यु पर आलोचक को इतना दुख हुआ कि शोकाभिभूत होकर अपनी पुस्तक का एक पृष्ठ रँग दिया। कारण यह कि वह सम्राट् होते हुए भी उसकी मृत्यु पर 'प्रसाद' जी ने किसी को रुलाया नही। इसमे गुप्तजी को दुखी होने का कोई कारण नही था। चार्ल्स प्रथम की मृत्यु पर भी तो क्रामवेल ने केवल इतना ही कहा था–"हा! क्रूर आवश्यकता!" वैसे ही वररुचि के भी तो उद्गार यहाँ निकल पडे–"अनर्थ!"

गुप्तजी चाणक्य के लिए लिखते है–

तक्षशिला में चाणक्य का कोई प्रभाव नही और न उसकी विद्वत्ता की ही कोई धाक है। आँभीक का रूढ व्यवहार उसे कुपित नही करता।'

क्या उसके कुपित न होने में कोई कूट-नीति नही हो सकती? हो सकता है कि वह चन्द्रगुप्त के द्वारा ही उसे नीचा दिखाना चाहता हो जैसा कि उसने आगे चलकर किया।

एक जगह गुप्तजी ने लिखा है–

'आंभीक केवल वाग्वीर है। वह कहता अधिक है परन्तु करता कुछ नही।' दूसरी ही साँस में समय आनेपर आप यो भी लिखते है –

'मूर्खतापूर्ण वार्तालाप करने के सिवा इस राजकुमार ने यदि कुछ सीखा है तो वह है तलवार चलाना।' आलोचना मे इस तरह की विरोधी बाते बहुत है।

गुप्तजी लिखते हैं—'मगध सम्राट् नन्द विलासकानन में ऐसे मूर्ख और उद्धत शराबी की भाँति बर्ताव कर रहे हैं, जिसे सिंहासनच्युत करने के लिये चाणक्य जैसे पुरुष को अपनी भयानक शक्ति का उपयोग करने की रत्ती भर आवश्यकता नहीं।' गुप्तजी के शब्दों को ही उलटकर हम कह सकते हैं कि आज भी नरेशों के अन्त:पुर में विलासिता नंगी होकर खेलती ही नहीं, वरन् उसका नंगा चित्र जनता ने देखा है, किन्तु बिना किसी 'चाणक्य' की सहायता के इन छत्रधारी नरेशों के राजमुकुट स्खलित होकर किसी ने धूल में लोटते नहीं देखे।

स्कन्दगुप्त की आलोचना में गुप्तजी लिखते हैं—

"यह नाटक इस योग्य नहीं है कि यहाँ उसकी चर्चा की जाय और न वह ऐसी चीज है कि उसकी आलोचना करने जाकर नाटककला के उच्च एवं भारी भरकम सिद्धान्तों को कष्ट दिया जाय।" अध्ययन के परिश्रम से बचने का यह सुन्दर तरीका होता यदि इसका उपयोग 'प्रसाद' जी के नाटकों पर न किया जाता। विद्वान् आलोचक ने सत्य की एकदम हत्या नहीं की पर तब भी उसे बेहोश कर दिया है। अत. कहना पड़ता है "हे समालोचक देव ! अपनी अल्पबुद्धि के द्वारा आप कवि की आत्मा में अशान्ति की खलबली न मचायें क्योंकि आप उसकी गम्भीरता का अनुभव नहीं कर सकते।"

प्रसाद, द्विजेन्द्रलालराय तथा विशाखदत्त के 'चाणक्य' में बीजरूप से विभिन्नता की एकता और अपनी भिन्न परिस्थितियों के कारण एकता की विभिन्नता है। 'प्रसाद जी का 'चाणक्य' बिना ही क्रोध के बहुत कुछ कार्य कर जाता है। उसका एक-एक शब्द परिस्थिति के अनुकूल और गंभीर चिंतन से खाली नहीं है। जिसका हँसना ही भयावह है उसके क्रोध की क्या जरूरत। 'चाणक्य' शब्द ही कूटनीति की ओर संकेत करता है। अत. कोई भी सच्चा समीक्षक 'चाणक्य' में क्रोध की अपेक्षा कूटनीति ही अधिक देखना चाहेगा और वैसे भी चाणक्य का क्रोधी नहीं वरन 'कौटिल्य' होना प्रसिद्ध है

# भारत की प्रसिद्ध लिपि : देवनागरी

भारतवर्ष में चार भाषाएँ साहित्य की दृष्टि से प्रधान मानी जाती हैं—बंगला, गुजराती, मराठी और हिन्दी। मराठी और हिन्दी भाषा की लिपि में कुछ भी अन्तर नहीं है, इसलिये मराठी भाषा की लिपिपर हम विचार नहीं करेंगे। पहिले इस बात को जान लेना चाहिये कि उपर्युक्त लिपियों की वर्णमाला समान है। पंजाब की गुरुमुखी लिपि का भी मूलाधार देवनागरी लिपि है। गुरुमुखी में 'ज्ञ' और 'क्ष' नहीं मिलते, जिसका कारण उच्चारण की असुविधा जानना चाहिये। बँगला, गुजराती और गुरुमुखी अक्षरों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों लिपियों का मूलाधार देवनागरी लिपि है। चारों लिपियों के जिन अक्षरों में परस्पर समानता है, उनको छोड़कर अन्य अक्षरोंपर ध्यान देने से आपको ज्ञात हो जायगा कि किस समय में देवनागरी अक्षरों का क्या रूप था और उसमें कैसे अन्य लिपिवालों ने अपनी-अपनी लिपि बनाई।

देवनागरी लिपि और अंकों का जो रूप हम आज देख रहे हैं, वह हजारों वर्षों के विकास का फल है। विद्वानों का मत है कि अरबी, फारसी और अंग्रेजी लिपियों में भी देवनागरी अंकों से अंक लिये गये हैं। इंग्लैंड आदि देशों में चौदहवीं शताब्दी में पूर्व १, २, ३ अंकों के लिखने का क्रम वही था, जो पहिली शताब्दी में भारतवर्ष में था। अर्थात् तीन को बतलाने के लिये तीन रेखा लिखनी पड़ती थी।

दक्षिणी भाषाओं और उनकी लिपियों का देवनागरी लिपि से कुछ कम सम्बन्ध है, इसलिये यहां उन लिपियों के विवेचन की जरूरत नहीं है। देवनागरी का सम्बन्ध ब्राह्मी लिपि की उत्तरी शाखा से है और दक्षिणी भाषाओं की लिपियों का ब्राह्मी की दक्षिणी शाखा से। देवनागरी अक्षरों का वर्तमान रूप लगभग ग्यारहवीं शताब्दी से शुरू हो गया था। ब्राह्मी

लिपि प्राचीन भारतीय आर्यों का मौलिक आविष्कार है। प्राचीन विद्वान ब्राह्मणों की लिपि होने के कारण ही यह ब्राह्मी कहलाई। बनारस के सारनाथ, भोपाल राज्य के सांची और काठियावाड के गिरनार आदि स्थानो मे पाये जाने वाले शिलालेखो की लिपि ब्राह्मी है। ब्राह्मी प्राचीन भारत की राष्ट्र-लिपि है।

देवनागरी लिपि के कई व्यंजन बंगला और गुजराती भाषा की लिपि मे समान है किन्तु लिपि भिन्नता के लिये अक्षरो के रूप बदल दिये गये। जो अक्षर देवनागरी अक्षरो से नही मिलते उनकी खोज करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वे देवनागरी अक्षरो के ही किसी पूर्वरूप के आधार पर बनाये गये है क्योकि देवनागरी अक्षरो मे अशोक के समय से लगाकर अढाई हजार वर्षों मे इधर बहुतसा परिवर्तन हो चुका है। अशोक के समय के अक्षर आजके अक्षरो के समान सुन्दर और लावण्ययुक्त नही थे इसलिये विकास के नियमानुसार उनमे परिवर्तन होना अवश्यम्भावी था। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की मुख्य लिपियो का मूलाधार हमारी देवनागरी लिपि है। कुछ विद्वानो का मत है कि देवनागरी का ही प्राचीन नाम 'ब्राह्मी' है। वह फारसी और रोमन लिपि की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उसमे अधिक से अधिक ध्वनियां है तथा ध्वनियो का पूर्ण विश्लेषण करलिया गया है। एक ध्वनि के लिये एक ही चिन्ह है। अंग्रेजी की भाति इसमे 'जी' ज और ग की ध्वनि नही देती और न 'सी' से स और क ध्वनि निकलती है। फारसी की तरह इसमें एक ध्वनि के लिये बहुत से अक्षर भी नही है। जैसे 'त' लिये तोय और ते तथा 'स' के लिये सीन और स्वाद। अग्रेजी की तरह देवनागरी मे लिखने के अक्षर अलग और छापने के अलग नही है। अग्रेजी की तरह इसमे छोटे बडे अक्षरो का भेद नही मानना पडता। अग्रेजी और उर्दू की तरह इसमे स्वरो को व्यजनो से पृथक लिखने की पद्धति नही है। इसमे जो लिखा जाता है वही पढा जाता है अतः आखो पर अनुचित बोझ नही पडता। इन सब कारणों मे देवनागरी भारत की सर्वश्रेष्ठ लिपि है।

## 'अशोक' और 'कर्तव्य'

'अशोक' प० लक्ष्मीनारायण मिश्र का एक ऐतिहासिक नाटक है जिसमे ५ अक और ? दृश्य है। किसी भी अक मे ७ से कम और ९ स स अधिक दृश्य नही है। न तो नाटक के प्रारम्भ मे मंगलाचरण या नान्दीपाठ है और न अन्त मे भरत वाक्य आदि। नाटक मे विदूषक नही है। विदूषक का कार्य नागरिक ही चला लेते है।

नाटक की भाषा लेखक के तीव्र भावो को समेटने मे असमर्थ और शिथिल जान पडती है। दो उदाहरण देखिये–

१ 'अशोक–नही तब तुम कैसे याद पड सकती हो? वहाँ मारने मरने से तो अवसर ही नही मिलता- भला कोई याद कैसे पड सकता है?'

२ "अशोक–(उदयभानु की ओर घूमकर) इतनी बडी सेना किसलिये आई थी– केवल मत्रीजी को पकडने के लिये? सच कहना, तुम्हारी जान न मारी जायगी।'

प्रसादजी की भाषा उनके भावो से भी अधिक शक्तिशालिनी है किन्तु सम्राट अशोक (नायक) के मुख से–याद पडना, जान न मारी जाना आदि प्रयोग भाषा का उखडा एव भद्दापन प्रगट करते है।

रगमच का पर्दा हटतेही हमारे सामने आते है–धर्मनाथ। सबसे शक्तिशाली पात्र है वह इस नाटक का। साहसी और चतुर कूटनीतिज्ञ। अतिम अकमे वह विष खाकर आत्महत्या करता है किन्तु वह अपनी असफलता लेकर किसी के सामने घिघियाता नही और उलझनो मे किसी से सहायता माँगने नही जाता। उसके उद्देश्यकी असफलता अपने मे जीवन की दृढ सफलता लिये हुये है –उसने अपने प्रयत्न मे कमी नहीं की। सम्पूर्ण नाटक मे कूटनीति की सतरज का यह खिलाडी अततक हमारा ध्यान बराबर आकर्षित किये रहता है। चद्रगुप्त नाटक मे चाणक्य को

सफलता जो महत्व रखती है, उससे कम महत्व (उससे कम लेखक के लिये) धर्म नाथ की असफलता नही रखती। चाणक्य और धर्मनाथ दोनों की कुछ ऐसी ही स्थिति है।

क्या किया धर्मनाथने-? सम्राट बिन्दुसार से मिलकर अशोक को उज्जैन भेजा। विमला को सहायता देकर अशोक के सेनापति गेण्टि-पेटर को मरवाना चाहा। अशोक के बड़े भाई सवगुप्त को मारने का भी षड्यन्त्र रचा। राजदूत जगतसूर से भरी सभा में झूठ कहलवाया कि कलिंग में उसका अपमान हुआ। कलिंग के राजकुमार जयंत का सेनापति बनकर युद्धभूमि में उसी की सेनापर हमला करवा दिया। सम्पूर्ण नाटक में इसका कोई प्रतिद्वन्दी नही।

आखिर धर्मनाथ क्या चाहता था-? उसी के शब्दों में नाटक के प्रारम्भ में सुनिये-"अभी उस दिन उन शूद्र ने कहा था-'यदि ब्राह्मण होना वास्तव में कोई गौरव की बात है, तो मैं भी ब्राह्मण हूँ।' उफ! जिस जाति ने अनेकबार अपने जीवन का हवनकर मानवीय आत्मा में मुक्ति का सन्देश भेजा था, उसी की आज यह दुर्दशा!' अत स्पष्ट है कि धर्मनाथ ब्राह्मण धर्म की स्थापना चाहता था।

अब हमारे सामने एक प्रश्न है कि नाटक का मूलाधार विचार क्या है। ब्राह्मणत्व और बुद्धत्व की टकराहट या नाटक के नायक अशोक के चरित्र का स्पष्टीकरण। विश्वविख्यात भारत सम्राट अशोक को अपने प्रारम्भिक दिनों में बौद्धों ने क्रूर और निर्दयी बताया है। लेखक इस नाटक द्वारा बताना चाहता है कि अशोक प्रारम्भ से ही सहृदय और दयावान था। उसकी इच्छा न तो सम्राट बनने की थी और न पिता के विरुद्ध विद्रोह करने की। धर्मनाथ के घटना चक्रों में फँसकर उसने कुछ ऐसे कार्य किये जिसके लिये उसे पछताना पड़ा और बौद्धधर्म को स्वीकार करके उसने अपनी गलतियों का प्रायश्चित किया। यही नाटक का मूलाधार विचार है जिसपर नाटक के कथानक का भवन खड़ा है। लेखक का कार्य स्तुत्य है कि उसने 'नाटक' के रूप में इस ऐतिहासिक सत्य को रक्खा। प्रसादजी ने 'अशोक' पर नाटक नही लिखा था, मिश्रजी के द्वारा यह कमी पूरी हुई।

अशोक के दर्शन हम प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही करते हैं और धर्मनाथ के आगे उसे कहते हुये सुनते हैं—"यदि अशोक किसी भी वस्तु को प्रणाम कर सकता है, तो वह है 'ब्राह्मणत्व' !" किन्तु अंत मे महान परिवर्तन होता है—अशोक बौद्ध बनता है धर्मनाथ के ही शिष्य गिरीश (उपगुप्त) से दीक्षा लेकर ! कितना बडा परिवर्तन !! लेखक ने बडी चतुराई से इस नाटक के प्रथम वाक्य मे धर्मनाथ के मुख से कहलवाया है—"परिवर्तन, कितना महान परिवर्तन।" वास्तव में धर्मनाथ कुछ दूसरी ही बात कहता है किन्तु उसके ये शब्द सत्य होते है। इस नाटक के नायक अशोक मे परिवर्तन होता है।

पुरुष पात्रो मे ऐंण्टीपेटर को हम नही भूल सकते। यदि यह अशोक का साथ न देता तो दर्शक अशोक का अस्तित्व भी रंगमंच पर न पाते। धर्मनाथ अपने स्वार्थभाव से अशोक का सहायक था किन्तु ऐंण्टीपेटर कर्तव्य भाव से, प्रेम भाव से, पवित्र भाव से और मित्रता के नाते। न जाने कितनी बार इसने अशोक के प्राण बचाये और युद्धभूमि मे भी राजकुमार जयंत के बाण से अशोक की रक्षा करने मे ही अपने प्राण दिये। अशोक का यह ईमानदार दोस्त और साहसी सेनापति आदर्श प्रेमी था जिसने उठती जवानी में अपराध किया था—एक चुंबन का और जिसे बॅक्ट्रिया के सम्राट ऐण्टीओकस ने सजा दीथी—देश निकाला।

स्त्री पात्रो मे डायना प्रधान है। इसके पवित्र प्रेम के आगे हम नतमस्तक है। एण्टीपेटर के प्रेम मे पगली डायना को अशोक नाटक का कोई पाठक या दर्शक नही भूल सकेगा। अन्य स्त्री पात्रा है—विमला, देवी और माया। इस नाटक की (और मिश्रजी की भी) यह विशेषता है कि इसमे जितने स्त्री पात्र हैं सब भिन्न प्रकार के है। डायना आदर्श प्रेमिका है, देवी विलास प्रिय प्रेमिका है, माया शक्तिशालिनी प्रेमिका है और विमला वैभवप्रिय प्रेमिका है।

इस ऐतिहासिक नाटक मे भी हमारे सामने कुछ नारी समस्याएँ आती है। ऐण्टापेटर और डायना को हम प्रारम्भ मे शिक्षक और शिष्या के रूपमें देखते है और बाद मे प्रेमी और प्रेमिका के रुप मे। इधर

विलासिनी देवी अशोक के लिये अपने अरमान दिलमे ही लिये रही और विमला की भवगुप्त से कभी पटी नही। अत. हम देखते है कि मिश्रजी की रुचि नारीसमस्यामूलक सामाजिक नाटको की ओर अधिक है और ऐतिहासिक नाटको की ओर कम। यही कारण है कि प्रसाद के नाटको की ऐतिहासिक भव्यता, दार्शनिकता और नायको का अन्तर्द्वन्द्व 'अशोक' मे देखने को नही मिलेगा।

नाटक का अन्त कलिग के महाराजा सर्वदत्त की लडकी माया और सम्राट अशोक के भतीजे अरुण के प्रेमपूर्ण मिलन मे होता है। वास्तविक सत्य के प्रकट होने से अशोक को शान्ति मिलती है और वह बौद्ध धर्म की दीक्षा लेता है। इस प्रकार यह नाटक सुखान्त हो जाता है।

नाटक मे कुछ स्थल हमे अस्वाभाविक जान पडे। भारत सम्राट बिन्दुमार कमजोर तथा विलासी हो सकते है किन्तु पाटलीपुत्र के राजमहल मे भवगुप्त का अपने पिता के सामने तलवार उठाकर यो कहना—'सम्राट आप इतने अन्धे होगये है ? आपको कुछ भी नही सूझता ? सर्वनाश के समीप पहुँच चुकनेपर भी आखे नही खुली ? अशोक से क्षमा माँगने मे लाज लगती है ? 'आदि—हम उचित नही समझते। वैसे तो ससार मे असभव कुछ भी नही किन्तु सिनेमा का यह हलका असर हमारे नाटक लेखको पर अच्छा नही है। यदि इसी तरह के शब्द महाराजा के प्रति उनके पुत्र से न कहलवाकर किसी महात्मा से कहलवादिये जाते तो अधिक अच्छा होता। दूसरी वात—महाराजा बिन्दुसार निरकुश शासक हो सकते है किन्तु इतने मूर्ख नही हो सकते कि वे एक रसोइया उदयभानु को सेनापति बनाते और राजनीति से अनभिज्ञ मन्दिर के एक पुजारी चन्द्रधर को अपने विशाल साम्राज्य का मन्त्रित्व सौप देते जैसा कि मिश्रजी ने इस नाटक मे वताया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान मिश्रबन्धु अपने इतिहास में लिखते है कि बिन्दुसार का शासन काल २८ वर्ष का माना जाता है। चन्द्रगुप्त की शासन प्रणाली इनके समय मे जैसी की तैसी बनी रही और किसी प्रान्तपर मगध साम्राज्य का प्रभुत्व ढीला न हो पाया अत यह स्पष्ट है कि रसोइया और पुजारी के भरोसे उनका साम्राज्य नही टिका था।

नाटक में कुल ८ गाने है। उनमें से चार तो प्रेम की देवी डायना गाती है। मिश्रजी स्वयं कवि हैं अत उनके गीत सुन्दर बन पडे है। लेखक ने यह भी ध्यान रक्खा है कि पाठक गानो की सूरत देखकर तथा दर्शक अपनी आखें बन्द कर के भी सुने तो स्पष्ट पहिचान ले कि गाना पुरुष पात्र का है या स्त्री पात्र का। लेखक का गद्य की अपेक्षा पद्यपर अधिक अधिकार जान पडता है। नाटक के गीत जब अपनी लय के साथ चलते है तो उनकी स्वर-लहरी से भाव खुशबू की तरह फैल जाते है। एक उदाहरण देखिये-

(डायना चाँद को देखकर गा रही है)

आजु हिमकर विहँसत वनपार।
मन सन करत समीर सुरभि-मय।
कूकत कोकिल निपट ललित लय॥
फूलि उठे सखि देखु विटप-चय।
करहिं भँवर गुजार॥
आजु हिमकर विहँसत वनपार॥
'झुकि झुकि जाति लता छन छन मे।
रुकि रुकि जाति किरण उपवन मे॥
कहि न जात जो उपजत मन मे।
अगनित नखत-विहार॥
आजु हिमकर विहँसत वन पार।

इस नाटक के पाँचो अक प्राय समान रूप से बराबर है। यदि प्रारम्भ के अक कुछ बडे और अन्त के छोटे होते जाते तो रगमच की दृष्टि मे सुविधा होती क्योकि बडे अको के दृश्यो की तैयारी करने में कुछ समय भी लगता है। यदि लगातार कई दृश्योवाले बडे बडे अक आते रहे तो पात्रो को अपनी तैयारी में कुछ असुविधा होती है। नाटक की भाषा सरल है। नाटक में अनेक रसो का समावेश होना चाहिये। प्रत्येक दृश्य के परिवर्तन पर नवीन रस का दृश्य आना चाहिये और वे एक दूसरे

से अधिक रोचक हो। मिश्रजी ने इस बात का ध्यान रक्खा है। नाटक में श्रृंगार, हास्य, करुणा, वीर और है शान्ति के दृश्य। इससे दर्शको का मन ऊबता नही। प्रत्येक अंक का अन्तिम दृश्य प्रभावशाली है अत: उसका पाठको और दर्शको पर सुन्दर और स्थायी असर पडता है।

सेठ गोविन्ददासजी हिन्दी के एक श्रेष्ठ नाटककार है। श्री. मैथिलीशरणजी ने जिस तरह कविता को अपनाया, प्रेमचन्द का जीवन जिस तरह कथासाहित्य के अनुकूल था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मनोवृत्ति जिस प्रकार आलोचनाकी ओर थी, ठीक उसी प्रकार गोविन्ददासजी के हृदय का प्रवाह भी नाटको की ओर बह रहा है। उन्होंने हिन्दी में कई नाटक लिखे है। 'कर्तव्य' उन्ही का एक पौराणिक नाटक है। वैसे तो 'पुराण' भी हमारे इतिहास है किन्तु 'पुराण' हमारे अज्ञातकाल का इतिहास है जिसके सम्बन्ध मे खोज करके हमने अभी उसे प्रामाणिक सिद्ध नही किया है। दूसरे इस नाटक में कुछ ऐसी बाते भी है जिन्हे बुद्धीवाद मानने के लिये तैय्यार नही। जैसे राक्षस मारीच का स्वर्ण मृग बन जाना, शापवश बालि का सुग्रीव के निवास स्थानपर न जा सकना और रावण की सभा में अंगद का पैर न उठना। ये ऐसी बाते है जिनका समाधान नाटककार भी न कर सका। तीसरी बात 'पुराण' हमारी पुरानी बाते है। राम और कृष्ण की कथा भी बहुत पुरानी है अत इस नाटक को हम पौराणिक ही मानते है।

इस नाटक की कथा–वस्तु राम और कृष्ण का चरित्र है जिसमें यह बताया गया है कि उन्होने कहाँ तक विषम परिस्थितियो में भी अपना कर्तव्य पालन किया। इस नाटक का 'कर्तव्य' नामकरण भी इसीलिये हुआ है।

'कर्तव्य' वास्तव मे एक नही दो नाटक है किन्तु पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध मिलकर ही सम्पूर्ण नाटक बना है। नाटककार की यह एक नई टेकनिक है, नया ढंग और नया तरीका कि एक नाटक मे दो नायक–राम और कृष्ण तथा दो नायिकाएँ–सीता और राधा। पूर्वार्द्ध के प्रधान पात्र राम और सीता है तथा उत्तरार्ध के कृष्ण और राधा। आदिकवि वाल्मीकि से

लगाकर हरिऔध और मैथिलीशरण तक न जाने कितने प्रबुद्ध लेखकों ने राम और कृष्ण की लीला का गुण गान करके अपनी लेखनी को पवित्र किया है। इसी परम्परा की रक्षा गोविंददासजी ने नाटक लिखकर की है अत उनका यह कार्य स्तुत्य है।

लेखक के प्रारम्भिक 'निवेदन' के अनुसार यह नाटक केवल चार दिनों में लिखा गया है और यह तभी सभव है कि लेखक परम वैष्णव हो और उसके हृदय में भगवान की भक्ति हिलोरे ले रही हो। वास्तव में ऐसा है भी। नाटककार जिस वातावरण में पला है वह परम भगवदीय था और वहाँ हमेशा रामायण और भागवत की चर्चा होती रहती थी। अत. 'कर्तव्य' नाटक के चार दिनो में लिखी जानेवाली बात कहकर नाटककार ने न तो अभिमान ही प्रगट किया है और न कोई अतिशयोक्ति।

नाटक के नायक राम और कृष्ण भारतीय हृदय के इतने नजदीक है और जनमनरजनकारी है कि उन्हे छोडकर नाटक के दूसरे पात्रो की ओर ध्यान नही जाता। भगवान राम और कृष्ण के समान सर्वगुण सम्पन्न नायक पाकर नाटककार का सफल होना स्वाभाविक भी है और कठिन भी। स्वाभाविक तो इसलिये है कि पाठक या दर्शक प्रेम से गद् गद् हो जाता है और नाटक के अन्य दोषो की ओर वह उतना आकर्षित नही होता और कठिन इसलिये है कि राम और कृष्ण के चरित्र मे परम्परा से चली आई हुई भावनाओ में हलकी सी ठेस लगाना भी कोई गवारा नही कर सकता।

नाटककार ने अपने नाटक में राम और कृष्ण को मनुष्य मानकर ही चरित्र चित्रण किया है, ईश्वर मानकर नही। तब भी नाटककार का विश्वास है कि राम और कृष्ण तथा राधा और सीता के समान व्यक्तित्व ससार के किसी साहित्य में नही है। दूसरो के लिये वे विश्वविख्यात महापुरुष हो सकते है किन्तु भारत के लिये तो वे भगवान है जिनके विरुद्ध हम अपनी मूल भावनाओ के विपरीत एक शब्द भी सुनने के लिये तैय्यार नही। इसलिये आलोचक के लिये एक नया काम और बढ जाता है कि इन महान चरित्रो को नाटककार ने पाठको के सामने किस ढग से रक्खा है और प्राचीन भावनाओ से लेखक का दृष्टि कोण कहाँ टकराता है।

इस नाटक को सम्पूर्ण पढलेने के बाद पाठक इस नतीजे पर अवश्य पहुँचेगा कि नाटक 'स्टेज-प्ले' नही वरन् 'स्क्रीन-प्ले' है अर्थात नाटक सिनेमा के लिये पर्दे पर बताने के लिये लिखा गया है, चाहे तो कोई उसे रगमच पर भी खेल सकता है। अभिनेताओ के लिये नाटककारने स्थान स्थान पर सकेत भी करदिये है जिससे अभिनेताओ को तत्कालीन वेशभूषा और आभूषणो का पता चल जाय। वर्तमान युग सवाक चलचित्रों का है अत. नाटककार के लिये यह स्वभाविक था कि वह अपनी रचना को 'स्क्रीन-प्ले' बनावे। बगला और मराठी वालो ने तो अपनी रगशाला को सघटित कर लिया है किन्तु हिन्दी वालो के पास अभी अपनी रगशाला नही है।

सम्पूर्ण नाटक मे विदूषक का काम नही है। प्रासगिक बाते भी वह नागरिको के द्वारा प्रकट करा देता है। कोमल भावो का व्यजक यह करुणापूर्ण नाटक वास्तव मे दुखान्त है। राम और कृष्ण, लक्ष्मण और बलराम, तथा राधा और सीता सभी प्रमुख पात्रो को हम अपनी इहलीला समाप्त करते देखते है फिर भला इस नाटक में हास्य के दर्शन की कल्पना ही कैसे की जा सकती थी।

पूर्वार्द्ध के प्रारम्भ में ही राम यो कहते है—

"देखना है, प्रिये, इस भारी उत्तरदाइत्व को सभालने के और अपने कर्तव्य को पूर्ण करने मे मै कहातक कृत कृत्य होता हू।"

हम स्पष्ट देखते है कि राम को अपने कर्तव्य की जानकारी प्रारम्भ से ही है और नाटक के अन्ततक बनी रहती है। रामने समय समय पर प्रसगानुसार सर्वस्व त्याग कर भी कर्तव्य का पालन किया है। विद्वानो ने भरत के त्याग की महिमा का वर्णन किया है किन्तु राम का त्याग भरत से कम नही। अपने हिस्से का राज्य छोडना कम त्याग नही किन्तु सीता के समान पत्नी को त्यागना भी कम महत्वपूर्ण नही जबकि राम जानता था कि वह भगवती गगा की तरह पवित्र है। ऐसी पवित्र कि जिसे छूकर अग्नि स्वय कृत कृत्य हो जाय।

राम और कृष्ण के चरित्र में हम मर्यादा पुरुषोत्तम और लीला पुरुषोत्तम का भेद स्पष्ट देखते है। ताड़का का वध रामने इसलिये किया

कि दुष्ट और अत्याचारी चाहे स्त्री भी क्यो न हो, वह वध के योग्य है, यह राम के युग का धर्म था। वालि को रामने छिप कर इसलिये मारा कि रामने सुग्रीव को वचन दे दिया था कि वालि से तेरी रक्षा करूगा। वचन पालन उस युग का धर्म था। सीता का त्याग रामने इसलिये किया कि राजा का धर्म है कि प्रजा के सुख के लिये वह अपना सर्वस्व निछावर कर दे। राम के शब्दो मे ही सुनिये।

"जब राजपद का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है तब एक वैदेही के प्रति अत्याचार करने के भय से, चाहे वह मुझे कितनीहि प्रिय क्यो न हो, सारी प्रजा को असतुष्ट तो नही किया जा सकता, छोटे पाप के लिये एक बडा पाप तो नही हो सकता।" अत स्पष्ट है कि जो मनचले लोग पत्नी त्याग के कारण राम के चरित्र मे दोष पाते है वे साहित्य की गहराई को नही समझते। कर्तव्यपालन मे रामने दिखा दिया कि राजाराम अपनी प्रजा के लिये क्या कर सकता है। शम्बूक का वध इसलिये किया कि ब्राह्मणो की नीति शूद्रो के प्रति बडी कडी थी। यही उस युग का धर्म था कि शुद्रका तप करना पाप है। यहा तक कि कर्तव्यने राम को प्यारे लक्ष्मण से भी दूर कर दिया और उस को सरयू मे आतम त्याग करना पडा। राम का अवतार मर्यादा की रक्षा के लिये हुआ था। वशिष्ठादि ब्राह्मणोने जो नीतिधर्म चला रक्खा था उस के विपरीत राम नही जा सकते थे। शम्बूक के सब्दो से सुनिये—

"मै योग बल के कारण जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म मे समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओ की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोडने के निमित्त नही।"

इसीलिये नाटक के उत्तरार्द्ध मे नाटककार ने यह बताना आवश्यक समझा कि कृष्ण रुप मे समाज की झूठी मर्यादाएं किस तरह तोडी गई। कृष्ण राधासे प्रेम करते थे किन्तु कर्तव्य के लिये उन्हे गोकुल छोडकर मथुरा जाना पडा। वे मगध के जरासघ को जीत सकते थे किन्तु अपने व्यक्तिगत वैर के कारण जनता का खून बहाना ठीक नही समझते थे। इसीलिये कालयवन के सामने से भागकर कायर कहलाना मजूर कर लिया। वे विवाह करना नही चाहते थे किन्तु विदर्भ कुमारी रुक्मिणी जब उनके बिना

आत्महत्या करने पर उतारू होगई तब शिशुपाल से उसकी रक्षा करने के लिये विवाह किया। भौमासुर के गृह मे सोलह राजकन्याएँ बन्दी थी। उनकी रक्षा की और जब समाज के भय से कोई उनका पाणिग्रहण करने के लिये तैय्यार नही हुआ तब समाज की परवाह न करके कृष्ण ने उन्हे अपनाया। भला कृष्ण और पराक्रमी बलराम के होते हुये अर्जुन की क्या ताकत थी जो सुभद्रा को भगालेता। किन्तु सुभद्रा अर्जुन को चाहती थी इसलिये इस कार्य में भी कृष्णने अपना अपमान नही समझा कि उसकी बहन भगाई जा रही है। राम और कृष्ण के चरित्र मे महदन्तर है। देशकाल की परिस्थितियो के अनुसार धर्म, नीति और कर्तव्य भी बदलते रहते है। कृष्ण का चरित्र अद्भुत है। वह हिमालय की तरह अटल, आसमान की तरह बेफिक्र, और सुख दुख को सम दृष्टि से देखनेवाला महा पुरुष था। अर्जुन ने जो कुछ कृष्णद्वारा ज्ञान प्राप्त किया वह अर्जुन के मुख से ही सुनिये—'यो तो ससार मे एक चीटी की हत्या भी निन्दनीय है परन्तु सद् सिद्धान्तो की हत्या के सम्मुख अक्षौहिणियो की हत्या भी तुच्छ वस्तु है। ससार में पृथकत्व केवल स्थूलदृष्टि से देखने मे ही है, यथार्थ मे सभी मे एकता है और सबमे एक शक्ति का ही सचार हो रहा है। आत्मा अजर एव अमर है, अत शरीर के नाश से उसका कोई सम्बन्ध नही, और यदि आत्मा नही है और शरीर की उत्पत्ति के साथ ही चेतनाकी उत्पत्ति होती है, तोभी शरीर के नाश को कोई महत्व नही। नित्य असख्यो शरीर उत्पन्न और असख्यो नष्ट होते है। जबतक शरीर तब तक कर्म करना ही होगा, क्योकि साँस लेना भी कर्म है और यदि कर्म से छुट्टी पाने के लिये आत्महत्या भी की जाय तो वह भी एक निन्दनीय कर्म होगा' यह है कृष्ण के जीवन का निचोड।

नाटककार ने अपने नाटक मे सामयिकता और स्वाभाविकता लाने का भी प्रयत्न किया है। जैसे अयोध्यावासियो के स्वर्गारोहण की बात को राम के साथ ही सबका भूकम्प के कारण पृथ्वी मे समाजाना। कृष्ण का गोवर्धन उठाकर ब्रज की रक्षा करने के स्थान मे पहाड की गुफा में लेजाकर ब्रजवासियो को सहायता पहुँचाना जैसा कि हरिऔधजी ने अपने प्रिय प्रवास मे बताया है। अघासुर, वत्सासुर, बकासुर और केशी को मारने के

स्थान में सर्प, वत्स, वक और गर्दभ को मारने की बात कह दी है। बन्दर और भालुओ को एक प्रकार की जगली जाति के मनुष्य बताकर उनके द्वारा 'अय कणप' यत्रद्वारा लोहे के गोले और चक्राश्म तथा भुशुण्डी यत्रो से राक्षसो पर पत्थरो की वर्षा की चर्चा की है। सामाजिक कुरीतियो को हटाने के लिये कृष्ण का वस्त्र हरण करना बताया है कि फिर मे स्त्रिया कही जल मे नग्न स्नान न करे।

राम और कृष्ण लोकहित के लिये अपनी विषम परिस्थितियो मे भी कठोर कर्तव्य का पालन करके ही भगवान बन सके है। उनके जीवन से हम यह शिक्षा ले सकते है और यही नाटककार का उद्देश्य जान पडता है। जब कृष्ण का कार्य समाप्त हो जाता है तब वह लीला सवरण करलेते है। वे स्वय कहते है—'जिसका कार्य समाप्त हो जाता है, उसे जाना ही पडता है जिसका शेष रहता है, उसे रहना।' विश्ववद्य महात्मा गाधी के जीवन मे क्या हम यह बात नही देखते ?

नाटककार ने सीता और राधाका चरित्र चित्रण बहुत सुन्दर किया है। इन देवियो के त्यागपूर्ण प्रेम की कथा सुनकर पत्थर भी आसू बहादेगा। राजरानी होकर भी जिसका जन्म राम के साथ यातनाओ के सहने में बीता हो, फिर भी जन्म जन्म मे सीता राम के चरणो की सेवाही चाहती है। अपने बचपन के पले प्यार को राधा अन्तिम—सास की पूर्ति मे कृष्ण के चरणों मे चढाकर ही दम लेती है। ये चरित्र ही ऐसे है कि उनकी चर्चा करनेवाला कोई भी लेखक भारतीय जनता के हृदय मे स्थान पा जायगा। नाटककार की सफलता इसी में है कि उसने अपने प्रधान पात्रो के चरित्रका क्रमिकविकास इस खूबी से बताया है कि पाठक और दर्शक आनन्द विभोर हो जायंगे।

नाटक की भाषा सरल, स्पष्ट और सस्कृत से सुशोभित है। हरएक अक का अतिम दृश्य प्रभावशाली है। गानो की जगह प्राचीन कवियो की कविताओ से काम चलाया गया है। वाल्मीकि के पढाये हुये लवकुश तुलसी की चौपाइयाँ गाते है।